भारतीय समाजवादी चिन्तन

(राममनोहर लोहिया के विशिष्ट संदर्भ में एक अध्ययन)

डॉ. लीलाराम गुर्जर

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्राक्कथन

हाल ही मे, भारत मे समाजवादी चिन्तन तथा विशेष रूप से राम-मनोहर लोहिया पर कई अध्ययन हुए हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश अध्ययन अपने स्वरूप मे ऐतिहासिक रहे अर्थात् इन अध्ययनो में समाजवादी विचारो को 'चिन्तन' की दृष्टि से नही बल्कि उन्हें समाजवादी आन्दोलन के विभिन्न ऐतिहासिक चरणो के रूप मे देखा गया। इनका प्रयास राष्ट्रीय आन्दोलन मे विकसित समाजवादी विचारो तथा उसके नेताओं को भारत के राजनीतिक विकास से सम्बद्ध करके देखने का रहा। सामान्यतः ये सभी अध्ययन नेताओ के लेखनों पर आधारित रहे तथा उस मानसिक पर्यावरण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, जिसमें कि भारत में समाजवादी चिन्तको ने अपने विचारो का सृजन किया। संक्षेप मे, इन अध्ययनों मे मुख्यत. दो आयाम प्रमुख रहे, प्रथम, भारत में समाजवादी विचारकों के चिन्तन की व्याख्या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की गयी। द्वितीय, इनका उद्देश्य देश में समाजवादी आन्दोलन के उद्भव तथा उत्थान के विभिन्न 'विकासो' को प्रकट करना रहा। अभी तक भारत मे राजनीतिक चिन्तन अभिविन्यास (पोलिटिक्स थॉट ऑरिएन्टेशन) की दृष्टि से, समाजवादी चिन्तन की व्याख्या का पर्याप्त प्रयास नही किया गया है। समान रूप से, एक तरफ भारत मे समाजवादी विचारों की प्रकृति, प्रारूपों, विकासो तथा सातत्यता पर भी पर्याप्त दृष्टि नही डाली गयी तो दूसरी तरफ व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और राज्य मे क्या पारस्परिक सम्बन्ध रहे, को भी विश्लेषण का बहुत कम केन्द्र-बिन्दू बनाया गया। इन अध्ययनों में एक अन्य कमी यह भी रही कि ये उस मार्ग को गहराई से नही देख पाये जिसके द्वारा समाजवादी विचारकों ने आधुनिक औद्योगिक समाज की समस्याओं तथा उससे जुड़े विभिन्न मुद्दों को समझा, उनकी व्याख्या की तथा विश्लेषण किया।

इस दृष्टि से भारत में समाजवादी चिन्तन के अन्य अध्ययन की अभी आवश्यकता है, जिसमे अध्ययन का केन्द्र बिन्दु, सामान्य रूप से, समाजवादी चिन्तन की प्रकृति तथा प्रारूपों के विकास पर हो। किन्तु यह अध्ययन बहुत वृहद् तथा व्यापक हो जायेगा, जिसके फलस्वरूप इसमें अस्पष्ट आने की भी सम्भावना बढ़ जाती है। अतः मैंने भारतीय समाजवादी आंदोलन के प्रतिनिधि विचारक होने के नाते, लोहिया को चुना है। अध्ययन का मुख्य आग्रह लोहिया के राजनीतिक विचारों को अर्थ प्रदान करना तथा उन्हें विभिन्न सिद्धान्तों के माध्यम से प्रकट करना है। साथ ही उस राजनीतिक प्रक्रिया का वर्णन करना

भी है, जिसमें राजनीतिक घटनायें देश को वैचारिक अनुकरण की ओर अग्रसर कर रही थी। अत मुख्य आग्रह लोहिया के विचारों के मूलभूत आधारो के परीक्षण से भारत मे चिन्तन के समाजवादी रूपान्तरण के शक्ति-स्रोतो का मूल्यांकन करने का रहा है। अतः यह अध्ययन न तो ऐतिहासिक अध्ययन है और न ही इसमे समाजवादी आन्दोलन की घटनाओं में लोहिया की भूमिका का कालक्रमानुसार विकास का विवेचन किया गया है। अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन में लोहिया के जीवन का कोई सामान्य ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है।

कई जटिल तथा विभिन्न प्रश्नो ने इस अध्ययन हेतु प्रेरणा प्रदान की है, जिनका अभी तक कोई सतोषजनक उत्तर नही दिया गया है— वे कौन से तत्व या कारक हैं, जिनके कारण लोहिया ने मार्क्सवाद तथा उदारवाद दोनो वैचारिक व्यवस्थाओं को अस्वीकार किया ? वे कौनसे वैचारिक बिन्दु हैं, जिस कारण उन्होंने अपने को समाजवाद की निजी आधार रेखाओं (भारतीय स्वरूपण) की ओर अग्रसर किया ? अपने समय की राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रति उनका क्या योगदान था ? प्रस्तुत पुस्तक मे इन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है।

मैं डॉ. वी. आर. मेहता, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति कृतज्ञ हू, जिनके स्नेह और निरन्तर प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप ही यह अध्ययन सम्पन्न हो पाया। डॉ डी वी. माथुर तथा विभाग के अन्य सभी साथियों का जो सहयोग रहा, उसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं। साथ ही डॉ. वी. आर. नन्दा, प्रो. गोपालकृष्ण तथा प्रो. रमा मित्रा के साथ जो विचार-विमर्श हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्होंने लोहिया के दर्शन पर कई नये आयामों को सुझाये तथा एक नयी दृष्टि प्रदान करने की कोशिश की इस हेतु मैं उनका आभारी हूं तथा उन्हें धन्यवाद देता हूं। अध्ययन सामग्री एकत्र करने हेतु प्रदान की गयी आर्थिक सहायता के लिये आई. सी एस. एस. आर. नई दिल्ली तथा स्रोत सामग्री एकत्र करने में विभिन्न पुस्तकालयों— केन्द्रीय पुस्तकालय, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी, नई दिल्ली; पुस्तकालय, ए. आई. सी. सी. नई दिल्ली— के प्रभारियों तथा उनके सहयोगी कर्मचारियों को, जिन्होने भरसक सहायता प्रदान की, धन्यवाद देता हूं।

लीलाराम गुर्जर

अनुक्रम

भारतीय समाजवाद की ओर

1. आधार की खोज

अगर हम भारतीय समाजवादी चिन्तन के प्रारम्भिक स्वरूप को देखें तो हमे समाजवादी दल का मार्क्सवादी आग्रह बहुत प्रभावशाली दिखायी देता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाजवादी चिन्तन का अपना कोई निजी अस्तित्व नही उभर सका, अर्थात् अपने स्वय के स्वरूपण का कोई प्रयास नही हुआ। किन्तु इस प्रवृति को समाजवादी पार्टी के पंचमढ़ी अधिवेशन (1952) मे एक झटका लगता है, जबकि लोहिया ने परजीवी चिन्तन धारा की सशक्त शब्दो में आलोचना करते हुए निजी समाजवादी आधार रेखायें विकसित करने की अपील की। इस प्रकार पंचमढी के अपने अध्यक्षीय भाषण मे लोहिया ने समाजवाद को नयी दिशा दी। जैसा कि अशोक मेहता ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा : "लोहिया का भाषण समाजवादी रास्ते में एक निर्णायक मोड़ है।"[1]

समाजवादी चिन्तन के प्रारम्भिक स्वरूप के स्पष्टीकरण हेतु यह आवश्यक एव वांछनीय होगा कि हम उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखें ताकि उसके मार्क्सवादी आग्रह की सत्यता की जांच कर सकें। हालांकि वंकिमचन्द चटर्जी, रविन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष तथा स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन में समाजवादी तत्वों को खोज सकते हैं। साथ ही इस सन्दर्भ में अमृत बाजार पत्रिका (1903), मॉडर्न रिव्यू (1910) में लिखे गये समाजवादी लेख तथा लाला हरदयाल का "कार्ल मार्क्स : ए मॉडर्न ऋषि ?" नामक लेख और के. रामाकृष्णा पिल्ले की मलयालम में लिखी गयी मार्क्स की जीवनी भी उल्लेखनीय हैं। किन्तु संस्थात्मक स्तर पर भारतीय समाजवादी चिन्तन तथा आन्दोलन का प्रारम्भ 1934 से शुरू होता है, जबकि कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुयी। "समादवादी दल की स्थापना ने भारतीय समाजवाद

---

1. रिपोर्ट ऑव द स्पेशल कॉन्वेशन ऑव द सोशलिस्ट पार्टी, पंचमढ़ी, 23-17 ई 19‧2, पृ. 56.

को भारतीय राजनीति की क्रांतिक धारा बना दिया।"[1] अतः समाजवादी चिन्तन की मार्क्सवादी प्रतिबद्धता को हम सन् 1934 से ही जानने का प्रयास करेंगे।

सन् 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल के रूप में एक देश व्यापी मार्क्सवादी पार्टी की स्थापना हुई[2] तथा जयप्रकाश इसके महामंत्री चुने गये, जो कि एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे। जयप्रकाश अपने अमेरिका प्रवास के दौरान वहाँ के प्रमुख साम्यवादी नेताओं–विशेषकर एवरोल मोही, मनुएल गोमेज–के निकट सम्पर्क में रहे। वहाँ रह कर जयप्रकाश ने गुप्तता से मार्क्सवाद का अध्ययन किया और साम्यवादी मित्र के सम्पर्क रहे। अतः कह सकते हैं कि जयप्रकाश को साम्यवादी व्यवहार का प्रत्यक्ष ज्ञान था। कांग्रेस समाजवादी दल के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन (मेरठ 1936) में जयप्रकाश ने मार्क्सवाद को दल का आधार घोषित किया। जयप्रकाश ने स्पष्ट शब्दों में कहा "समाजवाद का केवल एक रूप है, एक सिद्धान्त है और वह मार्क्सवाद है।"[3] हालांकि राजनीति के प्रश्न पर मार्क्सवादियों की विभिन्न धाराएँ हैं, "परन्तु सिद्धान्त तो मार्क्सवाद एक है।" उनकी उपधाराओं में भेद पाया जाता है। यदि हम मार्क्सवाद को स्वीकार कर लेते हैं, या मार्क्सवादी धारा में शामिल हो जाते हैं, जैसाकि मैं स्वयं हो गया हूँ तो मतभेद बहुत कम हो जाते हैं।

समाजवादी दल की स्थापना के साथ ही भारतीय साम्यवादी दल ने इसके कार्यक्रमों, दृष्टिकोणों तथा व्यवहार-पद्धति की आलोचनात्मक कर दी। कांग्रेस समाजवाद दल की स्थापना के प्रयास को बुर्जुआ लोगों का नियोजित वामपंथी प्रयास की संज्ञा दी तथा इसके नेताओं को "सोशल-फासिस्ट" करार दिया गया।" उसके अनुसार कांग्रेस समाजवादी पार्टी जनता के विद्रोह का विकास न करके, उसकी तरक्की को रोकने वाली थी। उनका ख्याल था कि यह महज कम्युनिस्टों के प्रभाव को रोकने की एक तरकीब है।"[4] जबकि दूसरी तरफ समाजवादियों द्वारा अपने जन्म से ही वामपंथी एकता के प्रयास शुरू कर दिये। रायपुर कांग्रेस समाजवादी पार्टी के बहुत निकट था तथा इस

---

1. सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 9.
2. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, पटना, 1973, पृ. 3.
3. वही।
4. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2030, पृ. 160-61.

वर्ग के सदस्यो ने पार्टी के पटना अधिवेशन में भाग लिया था। यद्यपि इस समय समाजवादी, साम्यवादियों से अपने मतभेदों के प्रति सचेत थे, किन्तु मतभेद का मुद्दा सैद्धान्तिक-मार्क्सवादी आग्रह के प्रति न होकर, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति अपने दृष्टिकोण को लेकर थे।[1] सांतवें वर्ल्ड कांग्रेस के समय नासिक ग्रुप के प्रमुख सदस्य एम. आर. मसानी के सम्मुख हेरी पोल्लिट, पामदत्ता तथा ब्रेडले आदि ब्रिटिश साम्यवादी नेताओ ने–जो कि भारतीय साम्यवादियों के प्रेरणात्मक अग्रदूत का कार्य कर रहे थे–कांग्रेस समाजवादी दल तथा भारतीय साम्यवादी दल के विलय का प्रस्ताव रखा। किन्तु मसानी के इस प्रस्ताव पर कि–पहले भारतीय साम्यवादी दल को भंग कर दिया जाये, तभी विलय सम्भव है–समझौता वार्ता खत्म हो गयी। परन्तु समाजवादी दल के अन्य संस्थापक सदस्यों का मानना था कि एकता वाछनीय है तथा यह भविष्य में आयेगी, किन्तु यह तभी सम्भव हो पायेगी जबकि दोनो दल जहा तक सभव हो सके टकराव की अपेक्षा सहयोगात्मक रूप से साथ-साथ कार्य करने का प्रयत्न करें। तभी दोनों में आपसी समझ उत्पन्न हो सकती है। "यह वाछनीय होगा कि साम्यवादी दल के साथ श्रमिक–क्षेत्र मे सहयोग किया जाये, जहां कि आगे चलकर प्रभाव उल्लेखनीय हो सके तथा साम्यवादी दल से आशा है कि वह कांग्रेस समाजवादी दल को कृषक वर्ग के मध्य सहयोग करें जहां कांग्रेस का प्रभाव प्रमुख है।..........हमारे साम्यवादी मित्र हमारी पार्टी के मार्क्सवादी स्वरूप को स्वीकारने के लिए तैयार नही है। अतः एकता के प्रयास निरर्थक बन जाते हैं।"[1] सभी समाजवादियों द्वारा यह स्वीकार किया गया कि संसार में सोवियत रूस ही एक मात्र देश है, जहां समाजवादी समाज संगठित है। अतः यह प्रत्येक समाजवादी का कर्तव्य है कि सोवियत लोकतंत्र की सहायता की जाये तथा इसके विरुद्ध अतिक्रमण करने वाले देश को समान शत्रु के रूप मे स्वीकार किया जाये। रूस की आलोचना करने का अर्थ फासिस्ट शक्तियों को वढावा देना होगा। बंगाल प्रान्तीय कॉन्फ्रेन्स में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार "जो लोग सोवियत प्रजातन्त्र के कार्य की निन्दा करते हैं वे अप्रत्यक्ष रूप से फासिस्ट शक्तियों को ताकत हासिल करने में मदद दे रहे हैं और प्रत्यक्ष रूप से श्रमजीवी क्रान्ति को हानि पहुंचा रहे हैं।"[3] इस प्रस्ताव

---

1. चौधरी, असीम कुमार : सोशलिस्ट मॉवमेन्ट इन इण्डिया : द कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, कलकत्ता : प्रोग्रेस, 1980, पृ. 66.
2. देव, नरेन्द्र : प्रोब्लम्स आव् सोशलिस्ट युनिटी, 9 अप्रेल 1938, पृ. 267.
3. संघर्ष, वर्ष 1, अंक 20, 16 मई 1938, पृ.

पर टिप्पणी करते हुए लोहिया ने कहा, यह पूर्णतः सच है कि आज अधिकांश समाजवादी रूसी सरकार के नेतृत्व को पूरी तरह स्वीकार कर रहे हैं। केवल यही नहीं, समाजवादियों द्वारा यह भी प्रयास किया गया कि एक तदर्थ-समन्वय-समिति बनाई जाये, जिसमें दोनों दलों के प्रतिनिधि हों, जो कि वैचारिक विभिन्नताओं के होते हुए भी साथ-साथ कार्य करने का मार्ग प्रशस्त करें।

कोमिन्टर्न के निर्देशन पर भारतीय साम्यवादी दल के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन आया तथा कांग्रेस समाजवादी पार्टी के द्वितीय अधिवेशन में अपने प्रतिनिधि भेजने का निश्चय किया। दूसरी तरफ कांग्रेस समाजवादी दल ने अपने बम्बई अधिवेशन (1935) के इस निर्णय को कि भारतीय साम्यवादी दल के साथ केवल "ट्रेड यूनियन" क्षेत्र में ही सहयोग किया जाये, को जनवरी, 1936 मे साम्यवादियों के प्रवेश को स्वीकार करके बदल दिया। लोहिया, मसानी,[1] अच्युत पटवर्द्धन और अशोक मेहता के विरोध के बावजूद नरेन्द्र देव के सहयोग से जयप्रकाश ने राष्ट्रीय कार्यकारिणी से साम्यवादियों के प्रवेश सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार करा लिया। साम्यवादी दल का अलग संगठन बना रहा, किन्तु बहुत बड़ी सख्या मे उसके सदस्य कांग्रेस समाजवादी दल मे शामिल हो गये।

कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (1936) मे, साम्यवादियों द्वारा कांग्रेस समाजवादी दल को मार्क्सवादी दल के रूप मे स्वीकार कर लिया, समाजवादियों के लिए इससे बड़ी बात और क्या हो सकती थी, जो कि उनकी प्रारम्भ से आकांक्षा थी। इसी स्वीकृति के आधार पर केन्द्र तथा प्रान्तो मे पार्टी के उत्तरदायी पदो पर साम्यवादियो को नियुक्त कर दिया। प्रमुख साम्यवादी नेता ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद को समाजवादी दल का सयुक्त सचिव बनाया गया। आर. रामामूर्ति को मद्रास तथा पी. जीवनदन को आन्ध्र की प्रादेशिक इकाइयों का नेतृत्व सौंपा। जबकि दूसरी तरफ इस दौरान साम्यवादियो का यह प्रयास बना रहा कि किस तरह से समाजवादी संगठन को क्षत-विक्षत किया जाये। वे समाजवादी सदस्यो को साम्यवादी सदस्यो के रूप मे परिवर्तित

---

1. हालांकि मसानी ने साम्यवादियों के प्रवेश का विरोध किया, किन्तु अपनी साम्यवाद में सैद्धान्तिक सहमति प्रकट की। उन्होंने साम्यवादियों से अपील की कि वे खुले दिमाग से काम लें। साम्यवादी व्यवस्था को मानव मुक्ति की व्यवस्था बताते हुये कहा, "न्याय और स्वतन्त्रता ही साम्यवाद के मूलमन्त्र हैं, सघर्ष, वर्ष 1, अक-3, 10 जनवरी 1930, पृ. 15.

करते गये तथा स्थानीय इकाइयों को अपने नियन्त्रण मे ले लिया। नम्बूदरीपाद के निर्देशन से साम्यवादियो ने सम्पूर्ण दक्षिणी भारतीय समाजवादी सगठनो को अपने अधीन कर लिया तथा उत्तरी भारत मे भी ट्रेड-युनियन आन्दोलन के क्षेत्र में काफी हस्तक्षेप करने लगे।[1] साथ ही समाजवादी दल के लाहोर अधिवेशन (1938) मे साम्यवादियों ने राष्ट्रीय कार्यकारिणी के लिये पृथक् सदस्य सूची भेजकर पार्टी पर कब्जा करने की कोशिश की, किन्तु वे सफल नही हुए। इसी दौरान एम. एन. राय को समाजवादी दल मे सम्मलित करने की बात उठी। नरेन्द्र देव तथा एम.एन. राय मे इस सिलसिले में पत्र-व्यवहार हुआ, हालांकि इस पर कोई निर्णय नही हो पाया। किन्तु साम्यवादी दल, रायवादी और फारवर्ड ब्लाक का जो मोर्चा बना, उसमें पार्टी शामिल हो गयी। पार्टी की इस नीति का विरोध करते हुए लोहिया मसानी, अच्युत पटवर्धन और अशोक मेहता ने केन्द्रीय कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया। लोहिया का मानना था कि समाजवादी दल का साम्यवादियो से कई प्रश्नो पर मौलिक मतभेद होते हुए—कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण, वैध और शान्तिपूर्ण साधन, प्रजातन्त्र की आवश्यकता, सोवियत सरकार के कार्यों के प्रति रुख—भी वे पार्टी के अन्दर घुस गये तथा निर्णयो को प्रभावित कर रहे हैं। चूंकि साम्यवादी पार्टी की नीति "कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल" द्वारा सचालित होती है, जो अधिकाधिक सोवियत सरकार की वैदेशिक नीति को ध्यान में रखकर चलती है, इस पर निर्भरता से समाजवादी आन्दोलन को धक्का पहुचेगा। लोहिया ने जोरदार भाषा मे कहा कि अगर समाजवादी पार्टी कम्युनिस्टों की नीति से पूरी तरह सहमत हैं तो क्यों न समाजवादी दल को भग कर दिया जाये तथा उससे मिलकर एक पार्टी स्थापित करें।[2] दूसरी तरफ समाजवादी दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने स्तीफे स्वीकार करते हुए एक प्रस्ताव (27 जून, 1938) मे कहा गया कि इस्तीफा देने के पीछे यद्यपि कुछ मदभेद थे पर पर्याप्त कारण नही थे। दिल्ली समाजवादी सम्मेलन मे अपनी वामपंथी एकता की आस्था को दोहराया गया। अध्यक्ष पद से बोलते हुए नरेन्द्र देव ने कहा : "वामपंथ को संगठित और शीघ्र मजबूत होकर देश मे ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए, जिससे कि वर्तमान नेतृत्व को राष्ट्रीय

---

1. सं.लिबाटली वाला, जो कि बाद मे जाकर केन्द्रीय सी. पी. आई. का सदस्य बने, सी. एस. पी. के नाम से चलाये जाने वाले ट्रेड-युनियन आन्दोलन में काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।
2. संघर्ष, वर्ष 2, अंक 25, 9 जुलाई 1939, पृ. 14.

माग वाले प्रस्ताव पर अमल करने के लिए मजबूर होना पड़े।"[1]

ऐसा नही था कि समाजवादियों को कम्युनिस्टों की विध्वंसात्मक नीति की जानकारी नहीं थी। राष्ट्रीय कार्यकारिणी की दिल्ली बैठक (1936 के अन्त मे) मे पार्टी की स्थानीय इकाइयों को चेतावनीपूर्ण प्रस्ताव भेजा था। सन् 1937 मे अनुशासनात्मक कार्यवाही की धमकी दी गयी तथा कांग्रेस समाजवादी दल के बम्बई अधिवेशन (मई 1939) में बहुत आक्रामक ढंग से साम्यवादियों को निकालने की माग उठी। किन्तु जयप्रकाश तथा नरेन्द्र देव का मार्क्सवादी आग्रह तथा वामपंथी एकता का भूत उन्हे कोई दृढ़ निर्णय लेने से वचित करता रहा।[2] जयप्रकाश ने साम्यवादियो के प्रति कठोर निर्णय लेने की अपेक्षा उनसे समझौता वार्ता चलाने का प्रयास किया, जो एक भयंकर भूल थी तथा आगे चलकर स्वयं जयप्रकाश ने इसे स्वीकार किया।

अन्त मे, रामगढ़ कांग्रेस अधिवेशन के समय, जब कम्युनिस्ट राष्ट्रीय आन्दोलन के ही विरुद्ध हो गये तथा जयप्रकाश जेल मे थे, कम्युनिस्टो को पार्टी से निकाल दिया। हालाकि रामगढ़ अधिवेशन के समय संस्थात्मक रूप मे सी. एस. पी. तथा सी. पी. आई. का पृथक्करण हो गया किन्तु सी. एस. पी. की मार्क्सवादी सैद्धान्तिक सहमतता बनी रही। पार्टी के पांचवें वार्षिक अधिवेशन (कानपुर 26 फरवरी–2 मार्च 1947) मे पार्टी की नीति और उद्देश्य पर नये सिरे से विचार किया गया। पार्टी की थिसिस के लिए समाजवाद के सैद्धान्तिक अंश को जयप्रकाश ने लिखा, जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रजातन्त्र मार्क्सवाद का अन्त: निहित सिद्धान्त है। "सोशलिस्ट पार्टी (हिन्दुस्तान) ऐसे समाज को मंजूर करती है, जिसका लक्ष्य समाजवादी समाज हो, इसमें आर्थिक और राजनीतिक प्रजातन्त्र रहेगा। मार्क्सवाद का यह स्वयसिद्ध सिद्धांत है कि समाजवाद के बिना प्रजातन्त्र सम्भव हो ही नही सकता। इसलिये हम लोग जिस समाजवादी सिद्धांत को मानते हैं, उसमें व्यक्ति यानी काम करने वाले सभी लोग स्वतन्त्र हैं और राज्य को सिवाय उचित कानूनी कार्यवाही के द्वारा उसके अधिकार और सुविधाओं को खत्म करने का हक नही है।"[3] इसी प्रकार स्वागताध्यक्ष पद से दिये गये अपने भाषण में नरेन्द्र देव ने बड़े सशक्त रूप से मार्क्सवाद का पक्ष पोषण किया

1. संघर्ष, वर्ष 2, अंक 25, 9 जुलाई 1939, पृ. 12-13.
2. वही, पृ. 14.
3. संघर्ष, वर्ष 5, अंक 39, 28 अप्रेल 1947, पृ. 1.

यद्यपि उन्होंने वामपंथी एकता का विरोध करते हुए कम्युनिस्टों के व्यवहार की कई महत्वपूर्ण कमियो का जिक्र किया । किन्तु अपनी मार्क्सवादी आस्था की कसौटी कम्युनिस्ट लीग के मुख्य पत्र (सितम्बर 1947) को बनाया तथा उसी मे से उदाहरण चुनकर अपनी बात सिद्ध करने का प्रयास किया । मार्च 1949 में समाजवादी पार्टी का पटना सम्मेलन हुआ तो पुरानी मार्क्सवादी धारणायें अभी भी प्रभावशाली थी । सम्मेलन में "लालटोपीधारियो" की सख्या बहुत अधिक थी । लोहिया ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि हर मत या पंथ आखिर में कुछ बाहरी चिन्हों तक सीमित हो जाता है । लालटोपी लगाकर समाजवादी उसी परम्परा को बढ़ायेंगे तथा समाज को तोड़ने का काम करेंगे । जबकि दूसरी तरफ साम्यवादी आस्था प्रकट करते हुए संयुक्त प्रान्तीय किसान पंचायत के पहले वार्षिक सम्मेलन (सिठमरा, कानपुर 10-12 जून 1949) में अध्यक्ष पद से बोलते हुए नरेन्द्र देव ने कहा : "कम्युनिस्ट कार्यो को चाहे वे चीन में हों अथवा भारत मे, मैं खतरा नही समझता । मेरा विचार है कि माओत्से तुंग का शासन चीन के पहले के शासन से कही अच्छा होगा और यह वांछनीय है कि भारत नये शासन से मैत्री सम्बन्ध रखे ।"[1] जयप्रकाश अभी भी वामपंथी एकता के लिये प्रयासरत थे । अपने कलकत्ता प्रवास के दौरान (अगस्त 1949) शतर बोस से वामपथी एकता के बारे में बातचीत की (शतर बोस जो यूरोप से लौटने के बाद वामपथी एकता पर बल दे रहे थे) तथा उन्हे कलकत्ता राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में आमन्त्रित किया गया और इस बात की खोज करने का प्रयास किया गया कि क्या एक सोशलिस्ट पार्टी का संगठन सभव है । साथ ही इस बैठक मे वामपथी एकता के प्रयास को समाजवादी दल की बुनियादी नीति घोषित किया गया ।

पार्टी के मद्रास सम्मेलन (मई, 1950) मे जयप्रकाश ने अपना लक्ष्य "जनतांत्रिक समाजवाद" रखा । किन्तु इसका तात्पर्य भी मार्क्सवाद ही था । इस सम्मेलन में उठी शंकाओं का जवाब देते हुये नरेन्द्र देव ने कहा, "जनतांत्रिक समाजवाद कोई नया विचार नही । यही मार्क्सवाद का कम्युनिज्म है । इससे इन्कार कोई ------समाजवादी नहीं कर सकता ।"[2] सन् 1951 में जयप्रकाश ने खुले रूप से कहा कि मार्क्सवाद को भारतीय परिस्थिति में लागू करने वाली कोई पार्टी है तो सोशलिस्ट पार्टी है ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते है कि सन् 1934 से 1951 तक समाजवादी दल मे चिन्तन तथा आन्दोलन दोनों ही दृष्टियो से

1. संघर्ष, वर्ष 7, संख्या 33, 20 जून 1949, पृ. 23,
2. देव, नरेन्द्र : मार्क्सवाद और समाजवादी पार्टी, लखनऊ, 1951, पृ. 23,

मार्क्सवादी आग्रह तथा उसके प्रति प्रतिबद्धता प्रमुख रही। किन्तु मई 1952 के पंचमढ़ी अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में लोहिया ने पहली बार इस बात की जोरदार अपील की कि भारतीय समाजवाद को अपनी निजी आधार रेखाओं पर विकसित होना चाहिये। लोहिया ने भारतीय समाजवादियों द्वारा "उधार की विचारधारा" पर जीवित रहने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुये कहा : "उधार तथा कर्ज लेकर जिन्दा रहने की आदत छोड़नी चाहिये। आज तक बहुत सी उधारी की गयी है। साम्यवाद से आर्थिक लक्ष्य और पूंजीवाद से सामान्य लक्ष्य-उदारवाद-जैसे सर्वसाधारण लक्ष्य लेने के कारण समाजवाद में तीव्र फूट पैदा हो गयी है। समाजवाद के लिये अब बुनियादी खोज करके निजी स्वतन्त्र विचारधारा का निर्माण करना जरूरी है।"[1] लोहिया ने स्वीकार किया कि आज का आशादीप समाजवाद ही है। किन्तु परम्परागत समाजवाद-यूरोपीय समाजवाद-विचारधारा के स्तर पर कई बौद्धिक दुर्बलताओं से ग्रस्त है। लोहिया ने यूरोपीय समाजवाद की निम्न कमियों की ओर दृष्टिपात किया है :—

1. यूरोपीय समाजवाद का परिप्रेक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय न होकर संकुचित राष्ट्रीय सीमाओं से बधा हुआ है, वह केवलमात्र अपने राष्ट्र के लोगों के स्तर को उठाने तथा उनकी सामाजिक सुरक्षा के आदर्श तक ही सीमित है। तभी यूरोपीय समाजवादी देशों की सरकारों की मुख्य चिन्ता का विषय यह रहा है कि किस प्रकार उनकी स्वयं की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा किया जाये तथा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाये। उन सभी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय रहा अर्थात् यूरोपीय समाजवाद में विश्वदृष्टि का अभाव है। लोहिया के शब्द में : "यूरोपीय समाजवाद अपने स्वयं के राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा क्षणिक समस्याओं से जुड़ा हुआ है। अतः उसमें पूर्णमत या विश्वदृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है।"[2] यूरोपीय समाजवादियों का दृष्टिकोण संकीर्ण होने के कारण उनका प्रत्येक निर्णय अपनी राष्ट्रीय जरूरतों से ही जुड़ा रहा तथा तीसरे विश्व की प्रमुख समस्याओं तथा इन देशों में व्याप्त गरीबी, असमानता, बेरोजगारी आदि प्रमुख मुद्दों के प्रति, जो कि समाजवादी व्यवस्था के सामने मुंह बाये खड़े हैं, उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया। यूरोपीय समाजवाद विश्व के एक सीमित क्षेत्र में समानता तथा समृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहा, वहीं विश्व के अन्य

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद; नवहिन्द, 1963, पृ. 321.
2. फर्गमेंट आव ए वर्ल्ड माइन्ड, कलकत्ता; मैंटरायनी, 1952, पृ. 11.

भाग पिछड़ेपन की गिरफ्त मे फंसे रहे। यूरोपीय समाजवाद की इस प्रवृति के तीन भयंकर परिणाम सामने आये : **प्रथम**, विश्व में एक सामाजिक तथा आर्थिक असन्तुलन कायम हो गया, फलतः पश्चिमी यूरोप तथा एशिया के मध्य ऐसी खायी पैदा हो गयी जिसे कभी पाटा नही जा सकता। लोहिया के अनुसार "यूरोप मे समाजवाद की गति क्रमिक, स्वरूप सवैधानिक तथा उद्देश्य वितरणात्मक रहा, जबकि विश्व के अन्य भागों में यह तीव्र, असंवैधानिक रहा, जहां उत्पादन पर जोर दिया जाता है।"[1] यूरोप मे औद्योगीकरण, उत्पादन, वितरण आदि की समस्या एक-एक कर-क्रमिक रूप से-आयी तथा क्रमिक रूप से ही उनका समाधान कर लिया गया। जबकि दूसरी तरफ एशिया में ये सब समस्यायें एक साथ आयी, अतः यहा की व्यवस्थाओ पर दबाव पड़ना स्वाभाविक हो गया। फलतः यहां समाजवाद का वही रूप नही हो सकता, जो यूरोप मे रहा। यूरोप उन्नति के इस स्तर पर पहुंच गया कि वहा उसकी समस्या उत्पादन की न होकर वितरण की रही, दूसरी ओर विकास के रास्ते मे एशिया बहुत पीछे है। एशिया की माग है कि स्थानीय समस्याओ को हल करने हेतु उत्पादन बढाया जाये। हालाकि लोहिया ने माना कि यूरोप के समाजवाद का वैधानिक स्वरूप सराहनीय आदर्श है, किन्तु तत्काल उद्देश्य प्राप्ति हेतु समाजवाद की गति को तीव्र करना होगा।

द्वितीय, किसी भी पिछड़े देश के समाजवादी आन्दोलन को अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर किसी अन्य देश का समर्थन नही मिला। अतः यूरोप से बाहर प्रत्येक देश में समाजवादी आन्दोलन की गति बहुत धीमी रही। लोहिया का मानना है कि आज यूरोपीय समाजवादी देश अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन के लिए परेशान नही है। "कोमिस्को" जैसा अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संगठन भी केवलमात्र पोस्ट ऑफिस बनकर रह गया है।

तृतीय, युद्ध और शान्ति भंग करने वालों के खिलाफ कोई प्रभावशाली नियन्त्रणक नहीं रहा। प्रत्येक देश अलगाववादी स्थिति मे

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 477 तथा विल टू पॉवर एण्ड आदर राइटिंग, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956, पृ. 57.

रह गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त रूप से इनके विरुद्ध प्रयास नहीं किया गया।

2. यूरोपीय समाजवाद में अनुदारवादी तत्व काफी मात्रा में प्रवेश कर गये हैं, क्योंकि यहां के समाजवादियों का केवलमात्र उद्देश्य चुनावों मे सफलता प्राप्त करना रह गया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वहां के समाजवादियो को मध्यमवर्ग के पूर्वाग्रहो को खुश करने के लिए विवश होना पड़ा, क्योंकि चुनाव सफलता आम जनता की जागरूकता की अपेक्षा मध्यम वर्ग की मनोदशा पर अधिक निर्भर करती है। दूसरे अस्थिर मतदाता—जो कि कई वार समाजवादियों को सत्ता प्राप्ति में सहायक हुए—के दृष्टिकोण में अनुदारता के तत्व कही ज्यादा पाये जाते हैं। अत: समाजवादी अवसरवादिता की इस स्थिति मे अपने सिद्धान्तो से ही समझौता करते गये। इस अनुदारवादिता की स्थिति के कारण यूरोपीय समाजवाद यथास्थितिवाद का समर्थक बन गया। लोहिया के शब्दो मे, "एक ब्रिटिश समाजवादी भारत के कामनवेल्थ मे रहने के प्रश्न पर भारत के किसी भी अनुदारवादी व्यक्ति से अधिक साम्य रखता है, एक सोशलिस्ट से कम।"[1]

3. यूरोपीय समाजवाद में "इथोस" और "इलान" का अभाव रहा। लेबनान के समाजवादी प्रगतिशील दल के अध्यक्ष कमल-जुमलात के साथ अपने संयुक्त वक्तव्य (7 दिसम्बर 1951) मे लोहिया ने कहा—"पूंजीवादी लोकतंत्र और रूसी कम्युनिज्म से अलग अपना एक निश्चित स्वरूप और उसके स्पष्ट पहलू न बन पाने के कारण, यूरोपीय समाजवाद मानव के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक पक्ष, संस्थागत और मानवी पहलुओं से, पूरी तरह आजाद करने के अपने आदर्श मे असफल रहा।"[2]

लोहिया का मानना है कि समाजवाद मे उक्त बौद्धिक दुर्बलताओ का कारण यह रहा कि वह पूंजीवाद और साम्यवादी वैचारिक व्यवस्थाओ के बीच फस गया तथा अपनी निजी तत्व-प्रणाली विकसित करने में असमर्थ रहा। लोहिया के अनुसार पूंजीवाद तथा साम्यवाद दोनो समान रूप से

1. संघर्ष, वर्ष 8, संख्या 39, 21 अगस्त 1950, पृ. 9.
2. वही, वर्ष 14, संख्या 18, 17 दिसम्बर 1951, पृ. 10, साथ ही, लोहिया : विल टू पॉवर एण्ड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956, पृ. 91.

निरर्थक व्यवस्थायें हैं।[1] दोनों पूर्ण विकसित किन्तु बन्द व्यवस्थायें होने के कारण सारा विश्व उनसे जकड़ा हुआ है, जिसके फलस्वरूप विश्व गरीबी, युद्ध तथा भय की स्थिति में रह रहा है। लोहिया के शब्दों मे, "पूंजीवाद और साम्यवाद के एक दूसरे के प्रति आरोप बढते जा रहे हैं, किन्तु दोनो ही भूख और लड़ाई की समस्या दूर करने मे असमर्थ हैं तथा दोनों जो कुछ करते हैं उससे भूख और लड़ाई अधिक भयकर रूप धारण करती जा रही है।"[2] जब कभी समाजवाद वामपंथी और दक्षिणपंथी प्रतिक्रिया के दो अंगों के बीच फंस जाता है, जैसाकि भारत में, तब वह अपना स्वरूप खो बैठता है। इसकी निजी निश्चयात्मक विशेषतायें लुप्त हो जाती हैं।

लोहिया ने पूंजीवाद और साम्यवाद के मूल लक्ष्यो एवं आधारो पर आघात करते हुए भारतीय समाजवाद की निजी विचारधारा विकसित करने पर जोर दिया। लोहिया ने स्पष्ट रूप से कहा कि जब तक हम अपनी मौलिक आधार रेखायें विकसित नही कर लेते तब तक चिन्तन तथा आन्दोलन, दोनो ही दृष्टियों से हम कोई विशिष्ट योगदान नही दे सकते और न ही भारत जैसे अविकसित देशों की समस्याओं का समाधान खोज सकते हैं। जबकि दूसरी तरफ अन्य समाजवादी—जैसे जयप्रकाश अपने दृष्टिकोण तथा मनोवृत्ति में पूर्णत: मार्क्सवादी होने के कारण मार्क्सवाद और समाजवाद को समानार्थक अर्थों मे लिया। जहा तक नरेन्द्रदेव का सवाल है, उनका मार्क्सवादी आग्रह तो स्पष्ट था ही, किन्तु कई बार उन्होंने ईसाई समाजवाद को ही समाजवाद माना तथा उसे उसी रूप मे भारत में अपनाये जाने पर जोर दिया,[3] जो कि वैचारिक दृष्टि से अस्पष्टता का द्योतक है। सम्पूर्णानन्द, लोहिया द्वारा प्रस्तुत समाजवाद की निजी आधार रेखाओ के विचार को ही चुनौती देते हैं। उनके स्वयं के शब्दो मे : "समाजवाद के साथ भारतीय विशेषण जोड़ना भ्रामक प्रतीत होता है। किसी सार्वभौमिक सिद्धान्त को भौगोलिक परिधि में बांधने का प्रयत्न करना उसकी सार्वभौमिकता का अपहरण करना होगा। हमें ऐसा प्रयास नही करना चाहिये।"[4] किन्तु वैदान्तिक दर्शन मे समाजवाद की जड़ें खोजना तथा सनातन धर्म और वर्णाश्रम धर्म

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 242.
2. वही, पृ. 243.
3. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2030, पृ. 465.
4. सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 293.

पर अपनी वैचारिक व्यवस्था को आधारित करने का प्रयास, एक प्रकार से सम्पूर्णानन्द के चिन्तन का विरोधाभासात्मक पहलू है। इस संदर्भ मे, जबकि प्रत्येक भारतीय समाजवादी विचारक स्थानीय परिस्थितियों की आवश्यकताओं को नकार कर बाह्य सार्वभौमिक सिद्धान्त— चाहे वह मार्क्सवाद हो या ईसाई समाजवाद–लागू करने मे प्रयासरत थे; लोहिया ने समाजवाद के निजी भारतीय स्वरूप पर जोर देकर एक महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतीय समाजवाद की निजी आधार रेखाओं के प्रति लोहिया का क्या दृष्टिकोण रहा। इसके लिए उन मान्यताओं को देखना होगा, जिन पर उन्होंने अपनी समाजवादी वैचारिक संरचना स्थापित करने का प्रयास किया। ये निम्न हैं :—

1. भारतीय समाजवाद को अपना आधार पूंजीवाद या साम्यवाद को नही वरन् गांधीवाद को बनाना चाहिए। गांधीवाद समाजवाद को वह आधार प्रस्तुत करता है, जिस पर विकसित होकर वह अपनी कमियों को पूर्ण कर सकता है और अपनी सीमाओं से दूर हो सकता है। लोहिया के शब्दो मे : गांधीवाद का नया सिद्धान्त विकसित करने से ज्यादा वाछनीय यह होगा कि विश्व स्तर पर विकसित व्यवस्थाओं पर गांधी के सिद्धान्तो को लागू किया जाये।''' '' '''समाजवाद के लिए गांधी के क्रियाकलाप "फिल्टर" का कार्य कर सकते हैं तथा अपने रंग पर आये धब्बों को दूर कर सकता है।"[1] अत्याचारी के खिलाफ नियन्त्रणक यन्त्र के रूप मे सत्याग्रह–सिविल नाफरमानी—छोटी मशीनी तकनीकी व्यवस्था, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की योजना आदि गांधीवाद के ऐसे तत्व हैं जो कि भारतीय समाजवाद के प्रमुख आधार होने चाहियें। चूंकि गांधीवाद पर आगे चलकर पृथक् रूप से विस्तृत विवेचन किया जायेगा, अतः यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा।

अन्य समाजवादियो में विशेषकर अशोक मेहता और आचार्य कृपलानी में गांधीवादी आग्रह प्रमुख थे। किन्तु चिन्तन संरचना के क्रम मे लोहिया की स्थिति दोनों से भिन्न है। लोहिया तथा अशोक मेहता की चिन्तन प्रक्रिया मे हम दो प्रमुख अन्तर पाते हैं :—**प्रथम**, अशोक मेहता ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के बेतुल अधिवेशन में "पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था की राजनीनिक बाध्यताओं" के शीर्षक से अपनी विचारधारा प्रस्तुत की, जो कि लोहिया की चिन्तन

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 123.

संरचना से बहुत दूर है। अशोक मेहता का मानना था कि आर्थिक विकास, जो कि नियोजन व्यवस्था द्वारा संभव हो सकता है, ही देश की समस्याओं की कुंजी सिद्ध हो सकती है।[1] जबकि दूसरी तरफ लोहिया के अनुसार यह धारणा कि आर्थिक उन्नति व्यक्ति की सभी समस्याओं की विनाशक होगी, गलत है। समस्याओं का समाधान सभी क्षेत्रो मे सुधार की समग्र पद्धति द्वारा ही संभव हो सकता है। चूंकि एक समस्या दूसरी से निकटता से जुड़ी होती है, अत: केवल एक क्षेत्र में किया गया सुधार का प्रयास अन्य क्षेत्रों की जड़तायुक्त स्थिति के कारण निरर्थक बन जाता है। द्वितीय, अशोक मेहता ने कांग्रेस के साथ "सहकार क्षेत्र" ढूंढने तथा एक सृजनात्मक विरोध की भूमिका निबाहने की अपनी मान्यता प्रस्तुत की। उनका मानना था कि एक पिछड़े हुए देश में इस बात की विशेष रूप से आवश्यकता है कि सरकार को अधिक समर्थन प्राप्त हो, जिससे वह योजनाओ को क्रियान्वित कर सके। दूसरी तरफ लोहिया ने स्पष्ट रूप से माना कि कांग्रेस से किसी प्रकार का समझौता सम्भव नही है, क्योंकि कांग्रेस एक पूंजीवादी पार्टी है और पूंजीवादी पार्टियां आधुनिक राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की दो प्रमुख कमियों—युद्ध की निरन्तर स्थिति एवं तृतीय विश्व के देशों में व्याप्त गरीबी-का समाधान प्रस्तुत करने मे असमर्थ हैं। इन दोनो समस्याओ का हल केवल समाजवाद द्वारा ही संभव है। दूसरे शब्दों मे अशोक मेहता की वैचारिक व्यवस्था पूर्णत: पाश्चात्य प्रारूप में ढली हुयी है। जबकि लोहिया की खोज का पहलू स्थानीय परिस्थिति तथा समस्याओ के अनुरूप उत्तर की तलाश है। जहां तक आचार्य कृपलानी का प्रश्न है, उनकी शत-प्रतिशत गाधीवाद मे आस्था तथा प्रतिबद्धता थी। जबकि लोहिया ने गांधीवाद के बहुत से मुद्दों पर असहमति प्रकट की, जिनका कि आगे चलकर विवेचन किया जायेगा।

१. लोहिया ने समाजवाद को एक नयी सभ्यता के रूप मे देखा। एक ऐसी सभ्यता जहां शोषणमुक्त स्वतन्त्र समाज की स्थापना कर सकना सम्भव होगा। जिसमें व्यक्ति, मनुष्य निर्मित असमर्थता के दायरे से ऊपर उठ सके और अपने सामाजिक-आर्थिक विकास का प्रारूप तथा राजनीतिक भविष्य का निर्धारण कर सके। अर्थात् समाजवादी समाज ऐसा होगा जहां "व्यक्ति को मानव गरिमा की प्राप्ति हेतु सामाजिक अवसर, सरकार पर नियन्त्रण तथा उसकी कार्यपद्धति मे भागीदारी हेतु राजनीतिक अवसर..........तथा

1. मेहता, अशोक : पोलिटिक्स आव प्लानड इकोनोमी, हैदराबाद; चेतना, 1953, पृ. 2-3.

अपने कौशल के प्रयोग तथा अच्छे जीवन की प्राप्ति हेतु आर्थिक अवसर समान रूप से प्राप्त होगे।"[1] इस संदर्भ में लोहिया द्वारा विवेचित "सप्तक्रान्ति" की परिकल्पना का विवेचन करना आवश्यक होगा। लोहिया के अनुसार आज संसार मे सात प्रकार के अन्याय व्याप्त है : गोरे-काले का, ऊँची जाति और छोटी जाति का, शोषक और शोषित देश का, नर-नारी असमानता का, राज्य के अधिकार और व्यक्ति के अधिकार, निजी जीवन का संरक्षण तथा अमीर-गरीब का। लोहिया ने कहा कि ये सात बडे अन्याय हैं, जो संसार को दु खी बना रहे हैं। इनको खत्म किये बिना संसार का पुनर्निर्माण नही कर सकते। उनके अनुसार समाजवाद ही ऐसी व्यवस्था सिद्ध हो सकती है, जो व्यक्ति को इन विवशताओं से हटाकर स्वाधीनता की स्थिति मे ला सकती है। लोहिया के अनुसार इस नयी सभ्यता-समाजवाद-के निम्न लक्ष्य होगे :—[2]

(क) अधिकतम सभव बराबरी और औचित्य के आधार न्याय की प्राप्ति।

(ख) रहन-सहन के अच्छे स्तर की प्राप्ति, जो पूंजीवादी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी, दोनो ही तरह के खतरो से बचकर मानव की भौतिक और नैतिक आवश्यकताओं मे पूरा सामंजस्य कायम करे।

(ग) उद्योग धन्धो और खेती का एक ऐसा तरीका निकाले और उसका उचित संगठन करे, जो मनुष्य के अधीन हो तथा उसके पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास के उपयुक्त हो।

(घ) राजनीतिक और आर्थिक शक्ति को इस तरह विकेन्द्रित करे कि वह साधारण व्यक्तियो को भी आसानी से प्राप्त हो सके, सभी क्षेत्रो मे खासतौर पर राष्ट्रीय पैदावार के उत्पादन, बटवारे और उपभोग के क्षेत्रो में सहयोग को प्रोत्साहित करके नौकरशाही पर रोक लगायी जाये।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोहिया के समाजवाद का अर्थ केवल मात्र राजनीतिक सत्ता का हस्तान्तरण ही नही बल्कि यह एक बहु-

---

1. राव, बी. के. आर. बी. : "सोशलिज्म द की टू नेशनल इन्टीग्रेशन", मैनस्ट्रीम, वो. 7, न. 1-3, 1968, पृ. 18.
2. लोहिया : विल टू पावर एण्ड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956, पृ. 41, साथ ही, संघर्ष, वर्ष 14, संख्या 18, 17 दिसम्बर, 1951, पृ. 10.

आयामीय सांस्कृतिक क्रान्ति है, जहां व्यक्ति तथा समाज दोनों को अधिकतम उत्कर्ष का अवसर प्राप्त होता है।

3. लोहिया ने भारतीय समाजवाद को रूपान्तरण की एक ऐसी समग्र तथा सर्वांगीण योजना के रूप में प्रस्तुत किया है, जहां आध्यात्मिक बनाम भौतिक, व्यक्ति बनाम समाज, धर्म बनाम अधर्म, संस्कृति बनाम रोटी, वर्तमान बनाम भविष्य आदि तथाकथित विरोधात्मक मुद्दों का समन्वय किया जा सके। लोहिया ने कहा कि इन मुद्दों को विरोधात्मक रूप में देखना कृत्रिम तथा अवास्तविक है। उन्होंने इन सभी पहलुओं की व्यावहारिक एकता पर जोर दिया। लोहिया का मानना है कि मानव जीवन में इन सभी पहलुओं का अपना-अपना स्थान होता है, अतः एक पक्ष की अवहेलना करके परिवर्तन या रूपान्तरण की आकांक्षा करना गलत होगा। इन सभी पहलुओं की समग्रता का विवेचन करते हुए, लोहिया ने उत्तर प्रदेश सोशलिस्ट पार्टी के हरदोई सम्मेलन (113-15 जून 1952) मे अध्यक्ष पद से बोलते हुये कहा, "दुर्भाग्य से अधिकतर राजनीतिक सिद्धान्त, जिनमे परम्परागत समाजवाद भी है, उन रूढ़िवादी दर्शनों से बंध गये है, जो इन प्रतिद्वन्द्वों को तोड़मरोड़ देते हैं। जिससे विचार और कर्म दोनों के घातक फल भोगने पड़ते हैं। इस दिशा मे अगर व्यावहारिक एकता का प्रयत्न किया जाता है तो यह अधिकतर इसे प्रदर्शित करके रूढियों के धोखे से बचने के लिए ही होता है, न कि एक नया दर्शन प्रतिपादित करने के लिए। राजनीतिक सिद्धान्तों तथा संगठनों में अनेक प्रकार के दर्शनों को रखने की क्षमता होनी चाहिए। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि ये वितंडावाद और रूढियो से मुक्त हो।"[1]

4. जहां तक राज्य-निर्माण का प्रश्न है, लोहिया ने अपनी चिन्तन सरंचना मे विकेन्द्रित राजनीतिक व्यवस्था, जिसे उन्होने "चौखम्भा-राज्य" का नाम दिया, का सृजन करने का प्रयास किया। चौखम्भा राज्य मे सम्प्रभुता-शक्ति एक केन्द्र में एकत्र न होकर गाँव, जिला, प्रान्त और केन्द्र मे बंटी होगी। एक तरफ आचार्य नरेन्द्र देव ने व्यावहारिक परिस्थितियों की मांग के कारण केन्द्रित व्यवस्था पर जोर दिया,[2]

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 37
2. संघर्ष, वर्ष 15, संख्या 24, 23 जून 1952, पृ. 11.

वहां दूसरी तरफ लोहिया का मानना है कि एकीकृत सम्प्रभु सत्ता दमन और स्वेच्छाचारिता को जन्म देती है, वहां लोकतन्त्र की प्राप्ति असम्भव है, अतः आवश्यक है कि विकेन्द्रीकृत व्यवस्था की स्थापना करें, ताकि वास्तविक अर्थों में लोकतंत्र की उपलब्धि हो सके। जैसा कि जी. डी. एच. कोल ने लिखा है, "लोकतन्त्र केन्द्रीकरण के विरुद्ध है, क्योंकि वह एक भावना है जो तुरन्त और वहीं प्रकट होना चाहती है। जब-जब भी समाज को अपनी इच्छा प्रकट करने की जरूरत महसूस हो, उसे अवसर मिलना चाहिये। उसे एक बड़े प्रवाह के रूप में एकत्र करने और मोडने का प्रयत्न करने से उसकी स्वाभाविक प्रेरणा मारी जाती है।"[1] केन्द्रित राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति को नकारती है, जबकि विकेन्द्रित राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के अधिकांश अवसर प्रदान करती है।

एकीकृत व्यवस्था मे राजनीति का संचालन समाज के अभिजन वर्ग तक ही सीमित रहता है, अर्थात् राजनीतिक सहभागिता का दायरा सीमित रहता है। जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि आम जनता का राजनीतिक-समाजीकरण नहीं हो पाता, जिसके कारण राजनीतिक चेतना की अभिवृद्धि नहीं होती और इस राजनीतिक अलगाव की स्थिति में शासक की निरंकुशता का दायरा बढ़ जाता है। लोहिया की राज्य-संरचना अर्थात् चौखम्भा राजनीतिक व्यवस्था की प्रारम्भिक इकाई गांव से शुरू होती है, जिसके फलस्वरूप राजनीतिक कार्यपद्धति से पूर्णतः अनभिज्ञ आम-जनता मे जागरूकता बढ़ती है, जो एक तरफ भावी शासक तैयार करती है, वहीं दूसरी तरफ वर्तमान शासकों पर प्रभावी नियन्त्रण का काम करती है। जैसाकि जोड ने राजनीतिक-विकेन्द्रीकरण में राजनीतिक चेतना की अभिवृद्धि का विवेचन करते हुये लिखा है, "यदि आप चाहते हैं कि राजनीतिक कार्य में जनता की श्रद्धा हो तो राज्य को विभाजित करके उसके कार्यों का बंटवारा करना ही होगा। हर मनुष्य के लिए यह अनुकूलता होनी चाहिए कि अनेक छोटी-छोटी संस्थाओं से उनका सम्बन्ध रहे, जो उत्पादन, प्रशासन सम्बन्धी विविध काम करती हैं।

---

1. कोल, जी. डी. एच. : ए गाइड टु मॉडर्न पॉलिटिक्स, 1934, पृ. 532

उनमे काम करते हुए उसे एक बार फिर यह भान होने लगेगा कि वह समाज के लिये सचमुच कुछ कर रहा है।"[1]

चौखम्भा व्यवस्था का आधार केवल मात्र राजनीति ही नही वरन् इससे उत्पादन, विनिमय तथा वितरण व्यवस्था भी निकटता से जुड़ी हुई है। लोहिया ने माना कि अगर आर्थिक संरचना को राज्य निर्माण की प्रक्रिया-चौखम्भा व्यवस्था–से नही जोड़ा गया तो विकासशील देशो मे नौकरशाही की एक नयी समस्या उठ खड़ी होगी। 'यह नौकरशाही नया मालिक बन जाती है।"[2] तथा इसका अभिजात्यवादी स्वरूप होने के कारण आम जनता पीछे छूट जाती है। अतः लोहिया ने इस बात पर जोर दिया कि आर्थिक संरचना का प्रारूप नीचे से ग्राम, जिला तथा प्रान्त की सलाह से ही बनाया जाये। इसकी विपरीत अवस्था मे उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार तो हो ही जाता है, किन्तु केन्द्रीभूत व्यवस्था होने के कारण राज्य पर नौकरशाही हावी हो जाती है तथा आम नागरिकों को मानवीय मूल्यों की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। पानदरीबा सोशलिस्ट क्लब की बैठक मे दिये गये भाषण मे लोहिया ने कहा : "केन्द्रीभूत उत्पादन के आधार को चलाने वाली.........सभ्यता, चाहे वह एडमस्मिथ के सिद्धान्तो पर आधारित हो अथवा कार्लमार्क्स के, कम से कम एशिया में तो रोटी की समस्या हल नही कर सकती। आर्थिक और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों को अपनाकर ही शोषणमुक्त समाज की समस्या हल हो सकती है।"[3]

इस संदर्भ में आर्थिक व्यवस्था से जुडा एक अन्य मुद्दा यह है कि केन्द्रित व्यवस्था के कारण अभिजनवादी सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है तथा समाज में जो वर्ग उभर कर ऊपर आता है, उसका चिन्तन कार्यकलाप तथा खर्चा पूर्णतः पश्चिमी व्यवस्था जैसा होता है। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुआ कि विकासशील देशो मे यह वर्ग पैदावार की दरिद्र बुनियाद पर खपत की आधुनिकीकरण पर

---

1. जोड, सी. ई. एम. : मॉडर्न पॉलिटिक्ल थ्योरी, लन्दन : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1953, पृ. 120-21.
2. संघर्ष, (सम्पादकीय) वर्ष 7, संख्या 29, 23 मई 1949, पृ 2.
3. वही, वर्ष 15, संख्या 15, 28 अप्रेल 1952, पृ. 3.

जोर देने लगा।[1] पिछड़े देश होने के नाते हमारी समस्या खपत की नहीं बल्कि उत्पादन की है। उत्पादन व्यवस्था को मजबूत बनाकर ही देश को सम्पन्न तथा समृद्ध बनाया जा सकता है। अतः आवश्यकता खपत के आधुनिकीकरण की अपेक्षा पैदावार के आधुनिकीकरण की है। दूसरे लोहिया ने जोरदार अपील की कि न तो भारत की खपत व्यवस्था और न ही पैदावार का आधुनिकीकरण पश्चिमी प्रारूप पर कर सकते हैं। पूंजीवादी तथा साम्यवादी व्यवस्थाओं की उत्पादन तकनीक भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों से भिन्न हमारे यहां अधिक जनसंख्या, कम भूमि तथा बहुत कम उत्पादन शक्तियाँ हैं। भारत तथा एशिया-अफ्रीका के अन्य देशों के लिये अधिक औजार तथा मशीनें, नये उद्योग तथा पेशों की आवश्यकता है। भारत जैसे अविकसित देशों मे उद्योगों मे लागत पूंजी कम है। इस स्थिति में बड़े पैमाने पर चलने वाले कल-कारखानों का चलना इस देश मे असंभव हो जाता है। अतः देश की उत्पादन व्यवस्था को आधुनिकृत रूप छोटी मशीनो द्वारा ही दिया जा सकता है। लोहिया के शब्दो मे : "अमेरीका और रूस के केन्द्रित और बड़े पैमाने पर चलने वाले औद्योगीकरण की नकल हिन्दुस्तान नही कर सकता ——— छोटी मशीनों पर आधारित उद्योग पद्धति ही मुल्क के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक है।"[2]

लोहिया की छोटी-मशीनी-योजना मे अन्तर्निहित रूप से विकेन्द्रित व्यवस्था का ही आग्रह रहा, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि व्यक्ति अपना निजी उद्योग उसी अवस्था में रख सकता है, जबकि वह अन्य श्रमिको को रोजगार न दे। द्वितीय, ग्राम सुधार योजनाओं–छोटी–इकाई–तकनीकीयोजना–पर जो कुछ भी खर्च किया जाये, वह ग्राम पचायतों और जिला बोर्डों के जरिये किया जाये। जहा तक खपत का प्रश्न है वह भी पश्चिमी प्रारूप पर न तो संभव है और न ही होना चाहिए, क्योंकि हमारे उत्पादन के साधन पश्चिम की अपेक्षा बहुत ही सीमित हैं। यहा एक एकड़ मे 150–300 रुपये की पैदावार होती है, जबकि वहा यह अनुपात चार या पांच

1. लोहिया : नोट एण्ड कोमेन्ट्स, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2, पृ. 54, 83
2. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 176.

हजार तक पहुंचता है, ऐसी स्थिति में पश्चिमी प्रारूप स्वीकार कर लिया गया तो समाज मे केवल एक वर्ग ही उभर पायेगा, बाकी अन्य जनता अलगाव की स्थिति मे छूट जायेगी। अतः लोहिया का यह आग्रह रहा कि खपत व्यवस्था को ग्राम, नगर तथा जिला पंचायतों से जोड दिया जाये, ताकि व्यक्ति को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की प्राप्ति हो सके। "यह व्यवस्था ही चौखम्भा राज्य बनाने की दिशा मे पहला कदम होगी।"[1]

5. लोहिया ने उत्पादन के साधनों के सामाजीकरण पर जोर दिया। जयप्रकाश तथा अशोक मेहता से भिन्न लोहिया ने यह माना कि सामाजीकृत सम्पत्ति मुख्यतः उत्पादन के लिए है, अतः उसकी बढ़ोतरी हो सकती है, जबकि निजी सम्पत्ति उपयोग के लिए है, अतः उस पर अंकुश होना अनिवार्य है। इस संदर्भ में सम्पूर्णानन्द की विचारधारा लोहिया के कुछ नजदीक है। सम्पूर्णानन्द का मानना था कि सीमित मात्रा में भोग्य सामग्री निजी सम्पत्ति के रूप मे रह सकती है, किन्तु उत्पादन साधनो को निजी स्वामित्व मे छोड़ दिया गया तो वह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को बढ़ावा देगी।[2] लोहिया के अनुसार निजी स्वामित्व की सीमा वहीं तक रह सकती है, जहां तक कि वह अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके तथा अन्य व्यक्तियों को शोषित श्रमिक की स्थिति न दे सके। सामाजीकृत तथा निजी सम्पत्ति के सह-सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लोहिया ने लिखा है : "सामूहिक सम्पत्ति का अपरिमित विकास और निजी सम्पत्ति पर अपेक्षित अंकुश, इन दोनों का मेल ही संतोष की एक स्थिति ला सकता है, जब सम्पूर्ण इच्छाओं की पीड़ा दुख नही देगी।"[3] लोहिया ने सामाजीकृत व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए चार कदम उठाने के सुझाव दिये है : प्रथम, लोकसभा के सभी सदस्यों की सम्पत्ति के एक भाग का—चाहे वह जमीन हो, कारखाना हो, मकान हो—राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। इस पर सख्ती से अमल हेतु, उल्लंघनकर्ता के लिए

1. संघर्ष, 25 अप्रैल 1949, पृ. 12.
2. सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 206.
3. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, (भूमिका पृ. 16).

जेल का प्रावधान रखा जाये। लोहिया ने माना कि : "जब तक जेल की सजा का बहुतायत से प्रयोग नहीं किया जाता, तब तक हिन्दुस्तान का आर्थिक जीवन सुधर नहीं सकता।"[1] द्वितीय, लोहिया के अनुसार चार्टर्ड-एकाउन्टेन्टों का राष्ट्रीयकरण किया जाये, क्योंकि पूँजीपतियों की अधीनस्थ स्थिति होने के कारण ये घपलों तथा गलतियों को कानूनी औचित्य का दर्जा प्रदान कर देते हैं। तृतीय, सभी विदेशी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। यहीं हम जयप्रकाश तथा लोहिया में तात्विक अन्तर पाते हैं। लोहिया ने जहां विदेशी कम्पनियों के पूर्ण राष्ट्रीयकरण पर जोर दिया, वहीं जयप्रकाश ने विदेशी औद्योगिक संस्थाओं को तो मान्यता दी, किन्तु उन्हें एक सार्वजनिक निगम के नियन्त्रण में रखने का प्रस्ताव रखा।[2] लोहिया के अनुसार इन कम्पनियों की लाभ दर बहुत अधिक— 35 प्रतिशत तक—है। ऐसी स्थिति राष्ट्र के लिए बहुत खतरनाक होगी। साथ ही, इनका राष्ट्रीय राजनीति में भी काफी हस्तक्षेप होता है, क्योंकि इन कम्पनियों में जिन लोगों को नौकरियां मिलती हैं, उनमें नौकरशाह, मन्त्री और बड़े लोगों के परिजनों की संख्या का प्रतिशत बहुत अधिक होता है। अतः स्वाभाविक है कि वे राष्ट्रीय-निर्णय-निर्माण-प्रक्रिया को आसानी से प्रभावित करके एकाकी निर्णय लेने को बाध्य कर देते हैं। अन्तिम, लोहिया ने कहा कि सामाजीकृत उत्पादन के साधनों पर नौकरशाही तथा केन्द्रित व्यवस्था होने के कारण कार्यक्षमता घट जाती है। अपने विकल्प प्रस्ताव में उन्होंने कहा कि सामाजीकृत उद्योगों का संचालन प्रजातांत्रिक तथा बराबरी के आधार पर हो तथा जहां तक सम्भव हो सके इनके प्रशासन में श्रमिक तथा उपभोक्ता वर्ग का प्रतिनिधित्व हो।[3] प्रशासन में श्रमिकों की सहभागिता का जयप्रकाश ने भी समर्थन किया। उनके शब्दों में "अगर श्रमिकों को उद्योग में स्वैच्छिक और समान भागीदार बना लिया जाये तो कुशलता और उत्पादन दोनों में वृद्धि होगी।"[4]

---

1. पित्ती बी. बी. त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. (सम्पादित) : लोकसभा में लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1974, भाग 6, पृ. 309-10.
2. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतन्त्र, पटना : 1973, पृ. 105.
3. पित्ती बी.बी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. : (सम्पादित), लोकसभा में लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1974, भाग-6, पृ. 6-7.
4. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतन्त्र, पटना, 1973, पृ 46.

6. आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक पहलुओं के तुलनात्मक महत्व के प्रश्न पर जयप्रकाश, नरेन्द्र देव, अशोक मेहता तथा कांग्रेस के अधिकांश नेताओं ने पाश्चात्य समाजशास्त्री मेक्स वेवर की इस मान्यता में विश्वास प्रकट किया कि अगर देश को आर्थिक रूप से समृद्ध बना दिया जाये तथा पूर्ण औद्योगीकरण कर दिया जाये तो सभी राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्न—भाषा, क्षेत्र, गरीबी, जाति, धर्म आदि–स्वतः सुलझ जायेंगे। लोहिया के शब्दों में : "वे यह सोचते हैं कि जब औद्योगीकरण कर लिया जायेगा तो सम्पत्ति में वृद्धि होगी। इसके साथ ही इसके स्वरूप का भी विकास होगा। भ्रष्टता कम होगी.........जाति व्यवस्था का अन्त हो जायेगा। भाषा समस्या सुलझ जायेगी, गरीबी के प्रश्न का उचित प्रकार से हल कर लिया जायेगा।" संक्षेप मे—औद्योगिकीकरण के जादू के साथ ही सभी समस्या सुलझा ली जायेगी।[1] हालांकि नरेन्द्र देव तथा मीनू मसानी[2] ने राजनीतिक पहलू पर थोड़ा जोर दिया। किन्तु उनके चिन्तन मे सामाजिक पक्ष गौण ही बना रहा। नरेन्द्र देव के शब्दों में : "हम समाजवादियों को लेनिन की यह बात बराबर याद रखनी चाहिए कि सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता की लडाई बहुत जरूरी है।"[3] जबकि लोहिया का मानना था कि भारत मे सामाजिक रूप से मुक्त व्यवस्था का निर्माण नहीं कर लेते, तब तक सभी समस्यायें ज्यों की त्यो बनी रहेगी, क्योंकि औद्योगीकृत व्यवस्था का संचालन जाति तथा धर्म के आधार पर पदसोपानीय स्थिति मे उच्च स्थान प्राप्त व्यक्तियो द्वारा होगा। लोहिया ने कहा : "कारखाना बना दो, तो कारखाने का मैनेजर कौन होगा।..........मान लो थोड़ी देर के लिये मालिक न रहकर मैनेजर कौन बनेगा। चार-पाच हजार वर्ष से संस्कार चला आ रहा है, जो जातिया हिन्दुस्तान मे पढ़ने-लिखने और व्यापार के काम में पांच हजार वर्ष से संस्कार अपने ऊपर उगा चुकी है, वे ही तो मैनेजर बनेंगी।"[4] ऐसी स्थिति मे जाति तथा धर्म का शिकंजा और भी जकड़ जायेगा तथा एक

---

1. लोहिया : नोट एण्ड कोमेन्ट्स, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2, पृ 10.
2. वही, वर्ष 1, अक 16, 18 अप्रेल 1938, पृ. 14.
3. वही, वर्ष-1, अक 15, 11 अप्रेल, 1938, पृ. 17.
4. चौखम्भा, वर्ष-7, अक 14-16, संख्या 245-47, 23 मार्च 1964, पृ. 55.

विखंडित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि औद्योगिकीकरण के साथ ही राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं का समान रूप से हल खोजा जाये और एक पक्षीय निर्णय से बचा जाये।

7. जहाँ तक लोहिया द्वारा प्रस्तुत समाजवादी साधनों का प्रश्न है, उन्होंने हिंसात्मक क्रान्ति तथा संसद दोनों को ही अपूर्ण माना, क्योंकि इनके द्वारा बुनियादी परिवर्तन नहीं हो सकता।[1] ये दोनों एक ही तत्व के दो अलग-अलग पहलू हैं। लोहिया ने सत्याग्रह, सिविल नाफरमानी, अहिंसात्मक रूप से कानून तोड़ने आदि पर जोर दिया।

जहाँ लोहिया ने समाज की परिस्थिति में परिवर्तन के कुछ सृजनात्मक कार्यक्रमों का सुझाव दिया, वहीं दूसरी तरफ नरेन्द्र देव ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि "समाज की वर्तमान परिस्थिति क्रान्ति द्वारा ही सुलझेगी। गुणात्मक परिवर्तन इस मंजिल में पुराने समाज का रूपान्तरण क्रमिक सुधार के जरिये न होकर आकस्मिक वेग अर्थात् क्रान्ति द्वारा होता है...... —पुराने समाज के भीतर नये समाज की अवस्थायें—जब परिपक्व हो जाती हैं तो अचानक क्रान्ति के द्वारा नये समाज का जन्म होता है। एक समाज से नये उन्नत समाज की ओर जाने के लिए क्रान्ति एक अनिवार्य सीढ़ी है।"[2] हालांकि जयप्रकाश ने भारत के लिए शांतिपूर्ण तथा लोकतांत्रिक मार्ग अपनाये जाने पर जोर दिया। किन्तु उनकी हिंसा में सैद्धान्तिक सहमतता थी, उन्होंने स्पष्ट किया कि यह देश-देश की परिस्थिति पर निर्भर करता है कि वहां हिंसात्मक साधन अपनाये जायें या लोकतांत्रिक। अत्याचार तथा अधिनायक-पूर्ण व्यवस्था में हिंसा का सहारा लेना नितान्त जरूरी है।[3]

सृजनात्मक कार्यक्रम के रूप में लोहिया ने—फावड़ा, मत और जेल—समाजवादी रूपान्तरण की नयी त्रिसूत्री योजना रखी। रचनात्मक कार्यक्रम के रूप मे फावड़ा वह प्रतीक है, जो हमे सिंचाई के लिए नहरों की खुदाई तथा इसी प्रकार के अन्य निर्माण कार्य करने के संकल्प में हमारी प्रतिबद्धता

---

1. लोहिया · सिविल नाफरमानी : सिद्धान्त और अमल, हैदराबाद : नवहिन्द, 1957, पृ. 1.
2. देव, नरेन्द्र . राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2006, पृ. 446.
3. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतन्त्र, पटना, 1973, (भूमिका पृ. 12-13).

प्रकट करता है। वोट जनता के निर्णय और संकल्प की सर्वोच्च शक्ति है। लेकिन वोट का इस्तेमाल करने के अलावा भी लोगो को परिवर्तन और पुनः निर्माण के लिए अहिंसात्मक आन्दोलनों-हड़ताल, घरना, बन्द आदि-तथा सिविल नाफरमानी के लिए तैयार रहना चाहिए। लोहिया ने इन अहिंसात्मक आन्दोलनों तथा सिविल नाफरमानी को प्रभावी बनाने हेतु निम्न निश्चयों पर जोर दिया।[1] प्रथम. सम्पूर्ण देश में लम्बे समय तक पूर्ण औद्योगिक निश्चेष्टता ला देना। यद्यपि यह कठिन प्रक्रिया अवश्य है, किन्तु सारे कारखानो के मजदूरों मे इतनी एकता और इतना दृढ़ निश्चय उत्पन्न करना होगा, जिससे एक ही साथ आम हड़ताल हो सके। हड़ताल के समय वेतन की व्यवस्था होनी चाहिए तथा मजदूरो मे इतनी सामर्थ्य होनी चाहिये कि वे देश के अन्य वर्गों के सहयोग से पुलिस तथा सैनिक उत्पीड़न का सामना कर सकें। द्वितीय, औद्योगिक विध्वंस कार्य, दूसरा हथियार है। किन्तु हमेशा चोट तथा मृत्यु के खतरे से बचना चाहिये और इस स्थिति के प्रति पूर्ण सजग रहना चाहिये कि कही हथियार आम हड़ताल का स्थान न ले लें। तृतीय, संचार तथा यातायात के साधनों को ठप्प कर देना चाहिये। इस काम मे लगे कर्मचारी काम पर जाना बन्द कर दें अथवा इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सारी जनता हजारों-लाखो की संख्या मे अहिंसात्मक तरीके से इस काम के निमित्त मरने को कटिबद्ध हो जाये। चतुर्थ, सेना के एक भाग को राज्य भक्ति से विचलित करके असहयोगी जनता के पक्ष मे कर लिया जाये।

लोहिया के अनुसार ये सिद्धान्त, वे आधार रेखायें हो सकती है, जिनके ऊपर भारतीय, समाजवाद अपने "निजी" स्वरूप को विकसित कर सकता है। इन्हीं आधार रेखाओ पर चलते हुए भारतीय समाजवाद को वैचारिक स्वतन्त्रता की स्थिति मे ला सकते हैं।

2. मार्क्सवाद से भिन्नता

लोहिया ही अकेले ऐसे भारतीय समाजवादी चिन्तक थे, जिन्होने मार्क्सवाद की गहराई से परीक्षा की। उन्होने अपने लेख "इकोनोमिक्स आफ्टर मार्क्स" (1943) में मार्क्सवाद के प्रत्येक पक्ष की सूक्ष्मता से विवेचना की। किन्तु लोहिया में कभी भी मार्क्सवाद के प्रति सैद्धान्तिक अपनत्व नही विकसित हो पाया। उनके शब्दों मे "......... मार्क्सवादी सिद्धान्त के अपने

1. लोहिया : "समाजवाद और लोकतंत्र", जनवाणी, 14-81, 3, दिसम्बर 1950, पृ. 166-67.

विशाल व्यावहारिक अन्तर्विरोधियों ने मुझे उद्विग्न कर दिया। अतः इसकी धाराओं के सत्य की खोज करने और उसके असत्य को नष्ट करने की मेरी इच्छा जगी।"[1] एक जागरूक राजनीतिक विचारक के रूप में लोहिया ने कभी भी एक व्यक्ति के विचारों को अपना अध्ययन केन्द्र नहीं बनाया अर्थात् वे कभी एक व्यक्ति के विचारों पर आश्रित नहीं रहे। उन्होंने स्पष्ट किया कि हम वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त कर सकते हैं, जबकि अपने चिन्तन को केवल मात्र एक व्यक्ति तक ही सीमित न रखें। उन्होंने लिखा है : "किसी भी एक व्यक्ति के चिन्तन को राजनीतिक कर्म का केन्द्र नहीं बनाना चाहिये। यह चिन्तन मे सहायता करे न कि विचारक के चिन्तन को नियन्त्रित। पूर्णरूप से स्वीकृति तथा अस्वीकृति, दोनों ही अन्धविश्वास के बदलते पहलू हैं। मेरा विश्वास है कि गांधीवादी अथवा मार्क्सवादी होना मतिहीनता है और गांधीवाद-विरोधी या मार्क्सवाद विरोधी होना भी उतनी ही बड़ी मूर्खता है। गांधी और मार्क्स दोनों के ही पास अमूल्य ज्ञान-भण्डार है, किन्तु यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि चिन्तन संरचना किसी एक युग या व्यक्ति के विचारों तक ही सीमित न हो।"[2] लोहिया ने मार्क्सवाद के जिन सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या की, वे निम्न हैं :—

प्रथम

लोहिया के अनुसार मार्क्सवाद का मुख्य आकर्षण विषय पूंजीवादी विकास का सिद्धान्त है। पूंजीवादी विकास का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने कुछ ऐसे सार्वभौमिक नियमो को प्रतिपादित किया, जिन्हे बदला नही जा सकता। पूंजीवाद के विकास मे ही यह निहित है कि स्वतः ही मनुष्य जाति एक दिन उस स्थिति मे आ जायेगी, जिसे साम्यवादी अवस्था कहा जाता है। किन्तु लोहिया ने मार्क्स के पूंजीवादी विकास के सिद्धान्त की विवेचना करते हुए कहा कि मार्क्स ने पूंजीवादी विकास का कोई सातत्यपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया। उन्होने मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इस सिद्धान्त की दो आधारों पर आलोचना की :—

(क) लोहिया के अनुसार मार्क्स की प्रारम्भिक गलती यह थी कि पूंजीवाद को उसने साम्राज्यवादी प्रसंग से अलग करके देखा। यद्यपि हम यह तो नही कह सकते कि मार्क्स साम्राज्यवादी

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 1.
2. वही, पृ. 2.

शोषण से अनभिज्ञ था। लेकिन उसकी दृष्टि में साम्राज्यवाद, एक बाद की चीज थी। लोहिया के अनुसार: "यह एक गंदा अतिरिक्तांग था और इस कारण से उन्होंने औपनिवेशिक जातियों के प्रति एक साधारण सहानुभूति दिखायी, जिसमें अधिक गहराई की छानबीन नहीं थी। अतः मार्क्सवाद पूंजीवादी विकास की तर्कोचित पूरी व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सका।"[1] मार्क्स ने लिखा है कि साम्राज्यवाद, पूंजीवाद का अगला कदम है। मार्क्स के इस सिद्धान्त का आचार्य नरेन्द्र देव[2] तथा अशोक मेहता[3] ने भी समर्थन किया किन्तु लोहिया के अनुसार, अगर हम ब्रिटेन, अमेरिका, जापान, जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों के पूंजीवादी विकास के इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद का प्रारम्भ और विकास एक साथ हुआ है। "इन बहुसंख्यक सत्यों को देखते हुए, समझ में नहीं आता कि कोई व्यक्ति साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का अगला अन्तिम कदम कैसे कह सकता है। साम्राज्यवाद न केवल पूंजीवाद के पहले दौर में प्रकट ही होता है, वरन् उसके साथ विकसित भी होता है। हम कह सकते हैं कि जन्म से पहले ही पूंजीवाद कोई बाहरी शक्ति-स्रोत ढूंढता है और अपनी अपरिमित भूख में एक के बाद एक देश को हजम करता जाता है।"[4] लोहिया के अनुसार मार्क्स और लेनिन की इस मान्यता का आधार यह रहा कि पूंजीवादी देशों ने उपनिवेशों में केवलमात्र अधिकाधिक पूंजी लगायी। किन्तु यह मानना सही नहीं है, क्योंकि पूंजीवाद अपने प्रारम्भिक स्तर पर ही उपनिवेशों में कारखानों की बनी चीजें लादना शुरू कर देता है। इंग्लैण्ड जहां कि पूंजीवादी व्यवस्था सबसे पहले विकसित हुई, लंकाशायर के उद्योग शुरू होते ही भारत में उनका बाजार ढूंढ लिया गया। अतः यह

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ 2.
2. देव, नरेंद्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सं. 2030, पृ. 379 साथ ही, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्युशन, बम्बई : पद्मा, 1946, पृ. 75.
3. मेहता, अशोक : ' एम्पेरियलिज्म इनेस्केपेबल डेस्टीनी," कांग्रेस सोशलिस्ट, वो 3, न 13, 3 अप्रेल 1937, पृ. 11.
4. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 13.

निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का प्रारंभ तथा विकास एक साथ हुआ। साथ ही मार्क्स और लेनिन की मान्यता इस आधार पर भी गलत सिद्ध होती है कि विश्व-इतिहास मे ऐसा कोई उदाहरण नहीं है, जहां बिना साम्राज्यवाद के पूँजीवाद का विकास हुआ हो।

(ख) लोहिया के अनुसार मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूँजीवाद की तस्वीर पश्चिमी यूरोप की तस्वीर है। लोहिया के इस मत की आचार्य नरेन्द्र देव ने भी पुष्टि की है। हरदोई (जून 1952) सम्मेलन मे अध्यक्ष के भाषण पर होने वाली बहस मे अपने विचार प्रकट करते हुए आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा : "डॉक्टर साहब ने (लोहिया ने) इस विषय की चर्चा करके बहुत उचित किया। मार्क्स और एंगेल्स ने अपने निश्चय अधिकांशतः यूरोपीय देशो के इतिहास के अध्ययन तथा अनुभव पर किये थे। उन्ही देशों के अनुभव पर अपनी रणनीति बनायी थी। इस बात को हमे नही भूलना चाहिए।"[1]

यह ठीक है कि पूँजीवाद पश्चिमी यूरोप मे पैदा हुआ, बढ़ा और पूरी तरह विकसित हुआ, किन्तु इस विकास के पीछे मुख्य प्रेरक शक्ति औपनिवेशिक देश थे। दूसरे शब्दो मे, पूँजीवादी विकास का मुख्य आधार औपनिवेशिक देशों का शोषण रहा, जो कि पश्चिमी यूरोप के घेरे से बाहर थे। इस कारण पूंजीवादी विकास को समझने के लिए, पूंजीवादी अर्थतंत्र को खाली पश्चिमी यूरोप की अर्थव्यवस्था के रूप में ही देखना काफी नही है। लोहिया के अनुसार यह तो पूँजीवाद का आन्तरिक घेरा है, जबकि इसके बाहर एक दूसरी दुनियां है, जहां से पश्चिमी यूरोपीय पूँजीवाद अपनी गति प्राप्त करता है। अतः पूँजीवाद को सिर्फ पश्चिमी यूरोप की चीज या सिर्फ राष्ट्रीय चीज मानकर उसका विश्लेषण करना बुनियादी तौर पर गलत है। लोहिया के शब्दों मे, "मार्क्स का पूँजीवाद एक स्वतः चालित पश्चिमी यूरोप के घेरे का पूँजीवाद है। जिसका बाहरी दुनियां पर प्रभाव तो निश्चय ही बहुत अधिक पड़ता है, किन्तु जिसकी गति के सिद्धान्त और नियम पूर्णतः आन्तरिक है। मार्क्सवाद आज दिन तक इस तस्वीर के साथ बधा हुआ है। वाह्य प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में सिद्धान्त तो निश्चय ही बनता है, किन्तु पूंजी की बाह्य और आन्तरिक गति के आपसी

1. संघर्ष, वर्ष 15, संख्या 24, 23 जून 1952, पृ. 1.

अन्तःक्रिया सम्बन्धों के बुनियादी सिद्धान्त को प्रकट करने में पूर्णतः असमर्थ है।"[1]

लोहिया ने मांग की कि मार्क्सवाद के इस असत्य चित्र को, सदा के लिए नष्ट कर देना चाहिये। इसके स्थान पर दो घेरों का एक चित्र—जो एक दूसरे के अन्दर हो—बनाना चाहिए। जिसके अन्दर का घेरा स्वतन्त्र पूंजीवाद संरचना का प्रतिनिधित्व करे तथा बाहरी घेरा बाकी दुनियां के औपनिवेशिक अर्थतन्त्र का प्रतिनिधित्व करे। जैसा कि लोहिया ने लिखा है: "अन्दर के घेरे (पूंजीवादी व्यवस्था) मे बाहरी घेरा (औपनिवेशिक दुनियां) से गत्यात्मक शक्ति को खींच लेने की विशाल शक्ति है। यही केवलमात्र एक तरीका है, जिससे हम पूजी श्रम की गत्यात्मक शक्ति को, साम्राज्य—उपनिवेश की गत्यात्मक शक्ति से मिलाकर पूंजीवाद के विकास को ठीक-ठीक समझ सकते हैं।"[2]

द्वितीय

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि "श्रम ही मूल्य का एकमात्र निर्माता है।"[3] मार्क्स कहता है कि श्रम अन्य वस्तुओं की भाति एक वस्तु है। हर अन्य वस्तु की भाति श्रम का भी निश्चित मूल्य होता है। किन्तु अन्य वस्तुओं के विपरीत श्रम अपने अन्दर दो विरोधी मूल्यो को धारण किये हुए हैं, जिससे वह फिर काम कर सके। इस प्रकार एक विशेष समय मे जो कुछ उसे "खाने" के रूप में दिया जाता है, वही उसकी मजदूरी है। यह श्रम का एक मूल्य हैं। किन्तु श्रम का एक दूसरा मूल्य भी है—उसका उपयोगिता मूल्य, उसे खरीदने वाले पूजीपति के लिए। पूंजीपति मजदूर की श्रमशक्ति के लिये दाम देता है, लेकिन उसके बदले, उसके द्वारा उत्पादित सारी वस्तुएं पाता है। इन वस्तुओ का एक भाग मजदूरी मे चला जाता है, किन्तु दूसरा भाग पूंजीपतियो के मुनाफे के रूप में बचा रहता हैं। मजदूर का दिन भी दो भागों में बंट जाता है। एक भाग मे उसकी मजदूरी निकलती है और दूसरे से मुनाफा। पूंजीपति मुनाफे के स्रोत का उद्गम यही है, क्योंकि केवल श्रम ही मूल्य का एकमात्र निर्माता है। दोनों मूल्यों का यही अन्तर ही अतिरिक्त मूल्य का स्रोत है अर्थात् श्रम-मूल्य और उसकी उपयोगिता-मूल्य के अन्तर को अतिरिक्त मूल्य की संज्ञा दी जाती है। लोहिया ने मार्क्स द्वारा व्याख्यायित अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 16.
2. वही, पृ. 17.
3. वही, पृ. 3.

पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम के दो रूप रहे हैं—एक जो साम्राज्यवादी देशों में प्रचलित है तथा दूसरा वह जो उपनिवेशी देशों में— जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि उन्हें एक साथ देखने पर, कभी भी ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। मार्क्स श्रम के इस दोहरे स्वरूप को देखने में असफल रहा। लोहिया के शब्दों में "श्रम या तो साम्राज्यवादी रहा है या औपनिवेशिक और दोनों के मूल्यों मे बड़ा अन्तर भी रहा है— ...मानवी श्रम ने जीवित रह कर, काम करने की बहुत बड़ी शक्ति दिखायी है और औपनिवेशिक श्रम के दो आने प्रतिदिन से साम्राज्यवादी श्रम के चार रुपये प्रतिदिन तक उसकी आवश्यकतायें रही हैं। इससे प्रकट होता है कि श्रम की आवश्यकतायें शरीर अथवा प्रकृति द्वारा निर्धारित न होकर, इतिहास द्वारा निर्धारित होती है।"[1]

श्रमिक की शारीरिक शक्ति और कौशल का प्रयोग समस्त विश्व में समान रूप से होता है तथा वैज्ञानिक सुविधायें समान हैं तो उत्पादन भी समान ही होगा। किन्तु औपनिवेशिक श्रम का 99% अतिरिक्त मूल्य के रूप में चला जाता है, जबकि साम्राज्यवादी श्रम का यह प्रतिशत केवल दस ही रहा है। इस प्रकार इन दोनों मूल्यों मे जो अन्तर है, उसको एक साथ नहीं ले सकते। अत. अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को पूंजीवाद–साम्राज्यवाद के संयुक्त विकास मे ही समझा जा सकता है।

तृतीय

मार्क्स के अनुसार, चूंकि पूंजीवादी व्यवस्था मे पूंजी का एकत्रीकरण तथा केन्द्रीकरण होता जाता है। अतः जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग बेकार होकर उद्योगो का श्रम-भंडार बढ़ाता है और मजदूर अधिक गरीब होता जाता है, साथ ही साथ, मजदूर वर्ग में अधिकाधिक एकता आती हैं, वह अपने प्रति सजग होता है, क्योंकि वह सहयोग से और बड़ी संस्थाओ में एकाधिकारवादी उद्योग धन्धों मे काम करता है। मार्क्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में लिखा है: "लेकिन उद्योगो के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग की संख्या में तो वृद्धि होती ही है, बल्कि वह बड़ी-बड़ी जमातो मे सकेन्द्रित हो जाता है, उसको ताकत बढ़ जाती है और उसे अपनी इस ताकत का अधिकाधिक एहसास होने लगता है।"[2] मार्क्स ने इसे श्रम के सामाजीकरण की संज्ञा दी है।

इस संदर्भ में लोहिया ने अपनी प्रक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि पूंजीवादी देशों मे श्रमिक वर्ग धन-हीन तथा पहले से गरीब नही वरन् उनके

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 16.
2. मार्क्स, कार्ल : कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, (अनूदित) मास्को : प्रगति, पृ. 46.

स्तर में निरन्तर सुधार ही होता गया है। लोहिया के शब्दों में - "श्रमिक वर्ग के जीवन स्तर में निरन्तर सुधार हो रहा है । यहां तक कि जर्मन अर्थशास्त्री यह दावा करने में समर्थ हो सके कि मध्यमवर्ग के सर्वहारा बनने के बजाय सर्वहारा वर्ग ही क्रमश: मध्यम वर्ग मे बदलता जा रहा है।"[1]

मध्यमवर्ग के प्रश्न पर आचार्य नरेन्द्र देव के चिन्तन मे अस्पष्टता की स्थिति पायी जाती है। एक जगह उन्होंने मार्क्स की भांति मध्यम वर्ग की भूमिका को स्वीकार नहीं किया। "आधारभूत रूप से हर समाज में दो ही वर्ग पाये जाते हैं। एक तो वे लोग जिनका स्थान समाज में मालिकों का होता है और उत्पादन के साधनों पर जिनका एकाधिकार होता है। दूसरा वर्ग जिसका काम हुक्म बजा लेने का होता है, जो पहले वर्ग के लिए दास बनकर काम करता है और उसके द्वारा शोषित किया जाता है।"[2] किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि इन आधारभूत वर्गों के अतिरिक्त भी समाज में कई प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं। हालांकि नरेन्द्र देव यह तर्क देते हैं कि इन वर्गों का स्वार्थ अन्ततोगत्वा इन्ही आधारभूत वर्गों मे किसी एक के साथ होता है तथा उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु उन्होंने आधारभूत वर्गों के अतिरिक्त बुखारिन द्वारा वर्गीकृत-मध्यम वर्ग, परिवर्तनशील वर्ग, मिश्रित वर्ग-वर्गों से पूर्णतः सहमति प्रकट की। अतः बाहरी रूप से न चाहते हुए भी चिन्तन प्रक्रिया के क्रम में नरेन्द्र देव ने विभिन्न मध्यम वर्गों की उपस्थिति स्वीकार कर ली।

साथ ही, इस संदर्भ मे मार्क्स के प्रति लोहिया का दूसरा आरोप यह रहा कि यद्यपि हजारों मजदूरों के एक ही स्थान पर सहयोग से काम करने के कारण, एक अर्थ में श्रम का सामाजीकरण तो हुआ, किन्तु उनमें एकता नही आयी। वैज्ञानिक और व्यवस्थापक, स्वतन्त्र पेशे वाले और बाबू वर्ग आदि के अतिरिक्त स्वयं मजदूरों मे भी कुशलता-अकुशलता, सामयिक और स्थायी के रूप में पदसोपानीय भेद हो रहे हैं। इन भेदों और मजदूरी की विभिन्नता

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 6.
2. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2006, पृ. 4:7.

ने श्रमिक वर्ग की कथित एकता को केवल एक शुभेच्छा में परिवर्तित कर दिया गया ।[1]

चतुर्थ

मार्क्स के अनुसार आज तक का समस्त मानव इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है ।[2] उत्पादन की शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्ध के आपसी टकराव के कारण वर्ग संघर्ष होता है । जैसा कि कैपीटल के तीसरे खण्ड मे मार्क्स ने लिखा है कि यह "उत्पादन की अवस्था के मालिक और उत्पादन करने वाले श्रमिकों के सीधे सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है ।"[3] वर्ग-संघर्ष का लक्ष्य उत्पादन की शक्तियो और साधनो को मुक्त कराना है जो तात्कालीन सभ्यता मे प्रचलित व्यवस्था के विशेष ढांचे के कारण दबे रहते है । लोहिया ने वर्ग सघर्ष की आलोचना दो स्तरों पर की है । (क) अन्य समाजवादियों से भिन्न— विशेपकर नरेन्द्र देव, जो कि स्वय इतिहास को मार्क्स द्वारा व्याख्यापित इन्ही तीन-चार युगो मे बाँटते हैं[4]—लोहिया ने कहा, मानव विकास के इतिहास को, यूरोप का इतिहास भी इसका अपवाद नही, मार्क्स द्वारा वर्गीकृत तीन-चार युगो मे विभाजित करना, समग्रता की अवहेलना करना है । (ख) लोहिया ने माना, यह सही है कि इतिहास में वर्गों के बीच संघर्ष चलता रहा है । इसमे कोई शंका नही है कि सभी युगो मे आंतरिक असमानता रही है और यह उन वर्गों के माध्यम से प्रकट होती रही है जो आपस में संघर्ष करते हैं । किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि इस वर्ग सघर्ष का रूप और क्रम क्या रहा है । इस दृष्टि से सम्पूर्णानन्द तथा नरेन्द्र देव एक तरफ है तथा लोहिया दूसरी तरफ है । नरेन्द्र देव[5] तथा सम्पूर्णानन्द[6] दोनों ने वर्ग सघर्ष मे तो विश्वास प्रकट किया, किन्तु उसका रूप आन्तरिक ही रहा तथा उसके बाहरी स्वरूप, जो कि राष्ट्रीय संघर्षो में दिखायी देता है, को नही देखा । जहा तक लोहिया का प्रश्न है, वे अर्नाल्ड-टायनबी के बहुत निकट हैं जिनका मानना है कि वर्गों का आन्तरिक सघर्ष राष्ट्रों के बाहरी सघर्ष के साथ-साथ चलता है । लोहिया का

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 8.
2. मार्क्स, कार्ल : कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (अनूदित), मास्को : प्रगति, पृ. 35
3. मार्क्स कार्ल : केपीटल, (अनूदित), मास्को : प्रगति, 1962, खण्ड 3, पृ. 772
4. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, स. 2006, पृ. 419-31.
5. वही, पृ. 263.
6. सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 165.

आरोप यह था कि मार्क्स वर्ग संघर्ष के इस रूप को देखने में असफल रहा। लोहिया के शब्दों में : "मार्क्स ने अन्दरूनी सर्वहारा और बाहरी सर्वहारा के इस फर्क की ओर काफी ध्यान नहीं दिया। यदि वे देते तो अन्दरूनी सर्वहारा के सामाजीकरण की बात करते और बाहरी सर्वहारा की बढ़ती हुई गरीबी की।"[1]

पंचम

मार्क्स के अनुसार श्रमिक क्रान्ति पहले अत्यधिक विकसित औद्योगिक देशो में आयेगी। मार्क्स द्वारा व्याख्यापित पूंजीवादी विकास के निहित नियमो के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था वही पर टूटेगी, जहां वह पूंजी के केन्द्रीकरण और समाजीकृत श्रम के साथ चल सकने मे असमर्थ हो। मार्क्स ने कम्युनिस्ट-मैनिफेस्टो में पश्चिमी यूरोप-विशेषकर जर्मनी मे क्रान्ति की आशा व्यक्त की थी। किन्तु क्रान्ति पहले जर्मनी मे जहां उसकी आशा थी या पश्चिमी यूरोप के अन्य किसी विकसित देशो मे न होकर रूस में हुयी। लोहिया के अनुसार इसे मार्क्सवादी सिद्धान्तो द्वारा अब तक स्पष्ट नही किया जा सका और न उनमें इसे सम्मिलित ही किया गया है।

लोहिया ने इस क्रान्ति का आधार स्पष्ट करते हुए कहा—जैसा कि हम ऊपर कह आये है—कि मार्क्स औपनिवेशिक श्रमिक स्थिति को देखने मे असफल रहा। जबकि पूंजीवादी देशो की अपेक्षा शोषण उनका अधिक हुआ। 'पूंजीवाद की जजीर वहा पर टूट गयी, जहां औपनिवेशिक मजदूरों की कडी सबसे ज्यादा मजबूत थी। जो लोग पूंजीवाद की जंजीर को फिर टूटते देखना चाहते हैं, वे उस ओर देखें तो ज्यादा अच्छा होगा, जहां अब औपनिवेशिक मजदूरो का वर्ग सबसे अधिक मजबूत है।"[2]

लोहिया द्वारा मार्क्स के उक्त सभी सिद्धान्तो की प्रस्तुत की गई आलोचनाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि उनका मार्क्स के प्रति मुख्य दोषारोपण यह रहा कि उसने अपने सभी निष्कर्ष पश्चिमी यूरोप की पूंजीवादी व्यवस्था के संदर्भ मे निकाले तथा औपनिवेशिक देशो की तरफ पर्याप्त ध्यान नही दिया अर्थात् पूंजीवादी तथा औपनिवेशिक व्यवस्थाओं की आपसी अन्तर्क्रिया को देखने मे अलगाववादी दृष्टिकोण अपनाया। औपनिवेशिक देशो की समस्याओं को उसने "एशियाटिक मोड ऑव प्रोडक्शन" का नाम देकर टाल देने की कोशिश की। हालांकि मार्क्सवादियो का तर्क है जब मार्क्स

1. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित) इलाहाबाद : लोकभारती, 1979, पृ. 31.
2. लोहिया : मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 30.

"एशियाटिक मोड ऑव् प्रोडक्शन" की बात करता है, तो स्वाभाविक रूप से वह उपनिवेशों की ही बात करता है। किन्तु लोहिया के चिन्तन को ध्यान में रखते हुए इस सिद्धान्त को दो आधारों पर परीक्षा कर सकते हैं। प्रथम, हालांकि यह सही है कि "एशियाटिक मोड ऑव् प्रोडक्शन" के सिद्धान्त में मार्क्स एशिया के उपनिवेशी देशों–भारत, चीन–की चर्चा करता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मार्क्स ने इनको अलगाव देखा या पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था के साथ। अर्थात् क्या दोनों व्यवस्थाओं की आपसी सम्बद्धता के मार्क्स ने कोई नियम या सिद्धान्त निर्धारित किये। उपनिवेशो की अलगाव में व्याख्या करना, जो कि स्वयं पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था के शोषणग्रस्त थे गलत है। अतः यह सार्वभौमिक सिद्धांत तभी हो सकता है, जबकि वे दोनो की आपसी अंतर्क्रिया के आधार पर उसे सृजित करने का प्रयास करें। द्वितीय,"एशियाटिक मोड ऑव् प्रोडक्शन" की अवधारणा सैद्धांतिक विरोधाभासो से भी ग्रसित है। इस अवधारणा की प्रमुख विशेषता निजी सम्पत्ति का अभाव माना गया है। किन्तु मार्क्स ने यह भी माना कि यह निजी सम्पति की अनुपस्थिति केवल इस कारण है कि वहा विशिष्ट भौगोलिक तथा पर्यावरणीय स्थिति पायी जाती है। मार्क्स वृहद् स्तरीय कार्यों को आवश्यकताओं के लिए राज्य की भूमिका को प्रमुख माना। किन्तु साथ ही उसने गांवों को अलगाव तथा एकांतता मे छोड दिया तथा यह माना गया कि यह अलगाव आर्थिक रूप से आत्म निर्भरता के फलस्वरूप है, जो कि घरेलु कृषि तथा हैण्डीक्राफ्ट के कारण है। जबकि आगे चलकर वे कहते हैं, यह एक साधारण संरचना है, जो कि गांवों के श्रम विभाजन पर आधारित है तथा ऑरिएन्टल व्यवस्थाओ की अधीनता को स्पष्ट करता है। दूसरे शब्दों मे मार्क्स ने एशियायी सभ्यता को बहुत निम्न स्तरीय सभ्यता की संज्ञा दी, जिसमें बहुत घटिया स्तर की उत्पादन शक्तियां हैं, किन्तु इसमें वे श्रम विभाजन की स्थिति का प्रारम्भिक रूप से विवेचन करते हैं।

व्यवस्थाओं की आपसी अन्तर्क्रियाओ का अभाव तथा सैद्धान्तिक विरोधाभासों की स्थिति यह स्पष्ट करती है कि मार्क्स ने उपनिवेशों को केवल ऊपरी निगाह से देखा तथा उनकी प्रमुख समस्याओं के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुए, अपने निष्कर्ष केवल पश्चिमी यूरोपीय पूंजीवादी व्यवस्था के आधार पर ही निकाल लिये।

मार्क्स पर उपर्युक्त सैद्धान्तिक दोषारोपण को देखने के उपरान्त यह वांछनीय होगा कि हम मार्क्स तथा लोहिया पर एक तुलनात्मक दृष्टिकोण से कुछ विवेचन करें। इस तुलना के प्रमुख बिन्दु अग्रलिखित हैं :—

1. मार्क्स में "राष्ट्र की अवधारणा" का पूर्ण अभाव है। उसने राष्ट्रीय समस्याओं के समाधन के लिए न तो किसी सिद्धान्त का ही निर्माण किया और न कोई मार्ग दर्शक तत्व ही सुझाये। मार्क्स के लिए राष्ट्रीय समस्याओं का स्थान गौण था। मार्क्सवाद का मानना है कि भाषा, जाति, धर्म, क्षेत्र आदि राष्ट्रीय समस्याओं का सैद्धान्तिक ऊपरी ढाचा आर्थिक बुनियाद के ऊपर खड़ा है। अतः हम बुनियाद को बदल दें तो बाकी समस्याओं का स्वतः समाधान हो जायेगा। दूसरे शब्दो मे मार्क्स का मानना है कि राष्ट्रीय समस्याओ का हल प्रगतिशील आर्थिक विकास में निहित है। उसे पूर्ण विश्वास था कि औद्योगीकरण ससार के सभी लोगो को एक कर देगा तथा राष्ट्रीय-राज्य को अनिवार्यतः समाप्त कर देगा। मार्क्स के शब्दो में : "प्रत्येक देश में सर्वहारा वर्ग के सामने एक ही तथा समान प्रकार का हित, एक और एकमात्र शत्रु तथा एक और एकमेव संघर्ष होता है ...... लोगों के बीच राष्ट्रीय भेदभाव तथा विरोध, बुर्जुआ वाणिज्यिक स्वतन्त्रता, विश्व बाजार, औद्योगिक उत्पादन के समरूपीकरण तथा उसके अनुरूप जीवन दशाओं के कारण क्रमशः समाप्त होता जा रहा है।"[1] जबकि दूसरी तरफ लोहिया ने उपराष्ट्रीय प्रवृत्तियों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। लोहिया ने इनको "घातक-साँप" की संज्ञा दी तथा कहा कि यदि इनके प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया गया तो घातक परिणाम होगे। लोहिया ने केवल इन समस्याओ का विवेचन ही नहीं वरन् समाधान भी सुझाये। अपने सुझावो मे उन्होने कहा, हालांकि आर्थिक तत्व महत्वपूर्ण हैं, किन्तु सामाजिक तथा सास्कृतिक तत्वों पर भी समान महत्व दिया जाये।

2. मार्क्स ने किसानों के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया। डेविड मिटरानी[2] ने तो यहा तक कह दिया है कि मार्क्स किसानों के विरुद्ध था। इस संदर्भ में मार्क्स की मान्यता का आधार यह है कि वृहद्-स्तरीय उत्पादन ही समृद्धता की प्रथम शर्त है। वृहद्-स्तरीय उत्पादन व्यवस्था समृद्धता की तरफ तेजी से बढती है, अतः वह निम्न स्तरीय

---

1. उद्धृत, डर्बेलर, लेस्ली : यूरोपीय वामपंथ के सौ वर्ष, नई दिल्ली : दि मैकमिलन, 1977, पृ. 115.
2. मिटरानी, डेविड : मार्क्स अगेंस्ट द पीजेन्ट, लन्दन : जार्ज वीडनफेल्ड एंड निकलसन, 1951.

उत्पादन व्यवस्था से श्रेष्ठ है। जबकि किसान वर्ग, जिसका आधार छोटी-इकाई-उत्पादन व्यवस्था है, कभी समृद्धता की उस स्थिति पर नहीं पहुंच सकते जो औद्योगिक व्यवस्था द्वारा सम्भव है। अतः मार्क्स के अनुसार विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु कृषक न होकर औद्योगिक श्रमिक ही होगा। दूसरी तरफ लोहिया ने श्रमिक संगठनों के साथ-साथ किसानों को भी संगठित करने का प्रयास किया। किसानों को संगठित करने के प्रयास में "हिन्द किसान पंचायत" की स्थापना मे उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। अन्य भारतीय समाजवादियों के साथ एक संयुक्त वक्तव्य में लोहिया ने कहा: "देश का नव-निर्माण और समाजवाद की स्थापना हिन्दुस्तान में करोड़ों किसानों के बल पर ही सम्भव है।"[1] विकासशील देशो मे जहां की अर्थव्यवस्था मे कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उसे नकार देना हानिकारक होगा।

3. मार्क्सवाद में राष्ट्र के अन्दर की गैर-बराबरी का तो कुछ समाधान प्रस्तुत किया गया, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अर्थात् राष्ट्रों के मध्य असमानता का कोई विकल्प सुझाने मे असमर्थ रहा। दूसरे शब्दों मे "मार्क्सवाद के पास देश के अन्दर की असमानता का थोड़ा बहुत जवाब अपने ढंग से जरूर है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय असमानता का इसके पास कोई जवाब नही है।"[2] मार्क्स का यह मानना त्रुटिपूर्ण था कि किसी देश के अन्दरूनी या आन्तरिक वर्ग-संघर्ष को खत्म करके अगर वहा की पूंजीवादी सत्ता को खत्म कर दिया जाये तो फिर दुनिया की विषमता को दूर करने की नींव पड़ जाती है। हमारे सामने एक उदाहरण चीन का है, जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर न केवल अमेरिका से भिन्न है, बल्कि बहुत सीमा तक सोवियत रूप से भी असमान और गैर-बराबर है। मार्क्सवाद के सहारे वह अपनी रूस से गैर-बराबरी दूर नही कर पाया। जबकि दूसरी तरफ लोहिया ने यह स्पष्ट रूप से माना कि किसी विशिष्ट देश मे समाजवादी व्यवस्था कायम करना असंभव होगा, अगर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर—राष्ट्रो के मध्य—असमानता

---

1. संघर्ष, वर्ष 8, संख्या 15, 20 फरवरी 1950, पृ. 5.
2. त्रिती, बी. पी., त्रिपाठी, ए तथा निर्मल, ओ. पी. (सम्पादित), लोकसभा में लोहिया, हैदराबाद: राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1973, भाग-3, पृ 183.

व्याप्त होगी। लोहिया ने पुरजोर शब्दों मे मांग की कि आन्तरिक वर्गसंघर्ष के साथ-साथ एक वर्ग के रूप मे राष्ट्रों के मध्य सघर्ष को भी अध्ययन का विषय बनाया जाये।

मार्क्स के साथ सह-समबद्धता तथा असम्बद्धता के उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि लोहिया का स्थानीय परिस्थितियों का आग्रह ही प्रमुख रहा अर्थात् सिद्धान्त निर्धारण मे "निजी आधार" की अपील ही महत्वपूर्ण रही तथा मार्क्स के सभी सिद्धान्तों की आलोचना, इसी आग्रह के प्रकटीकरण के रूप मे की है। इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि लोहिया ने मार्क्स की आलोचना भारत तथा इस जैसे एशिया के अन्य देशो, जो उपनिवेशिक स्थिति में थे, को आधार मानकर की।

3. उदारवाद से भिन्नता

उदारवाद उन पद्धतियो तथा नीतियो की संरचना के प्रति प्रतिबद्धता तथा उनमे विश्वास है, जो व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता के सामान्य लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है।[1] प्रारम्भ में उदारवाद राजनीतिक दलों या सामाजिक वर्गो से तथा प्रायः विशिष्ट कार्यक्रमों से सम्बद्ध रहा। कालान्तर में उदारवाद शब्द का प्रयोग एक चिन्तन धारा के लिये हुआ। मूलतः वैयक्तिक स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की महत्ता, मानव की गरिमा तथा उसकी क्षमता मे विश्वास, समाज मे व्यक्ति की महत्ता एवं भूमिका निर्वाह को क्षमता, इस अवधारणा के प्रमुख आधार हैं। इस प्रकार उदारवादी व्याख्या में उन संस्थाओ तथा नीतियो का समर्थन तथा सरक्षण अनिवार्य माना गया, जो स्वतन्त्र अभिव्यक्ति तथा स्वतन्त्रता मे विश्वास व्यक्त करें एवं उसका संवर्धन करें।

एक विचारधारा के रूप में उदारवाद सर्वप्रथम इंग्लैड मे स्वर्णक्रान्ति (1688) तथा सुधार एक्ट (1867) के मध्य विकसित हुआ। सर्वप्रथम, उदारवाद संवैधानिक गारन्टी तथा व्यक्तिगत अधिकारो की "सीमित अपील" के रूप में आया, जिसका रूपान्तरण आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन के सकारात्मक सिद्धान्त के रूप में हुआ। इंग्लैण्ड का "क्लासिकल" उदारवाद तीन उदार परम्पराओं—लॉक का सविधानवाद, एडमस्मिथ का आर्थिक उदार-

---

1. स्मिथ, डी. जी. : "लिबरलिज्म", इन्टरनेशनल एन् साइक्लोपिडिया ऑफ् सोशल साइंस, वो. 7, पृ. 276.

वाद, बैंथम तथा मिल का उपयोगितावाद—का ऋणी है ।[1] इन तीनों उदार परम्पराओं की अभिव्यक्ति सम्बद्ध ऐतिहासिक युगों से समीकृत है ।

उदारवाद का "क्लासिकल" परिप्रेक्ष्य न तो उसी रूप में यूरोप महाद्वीप में विकसित हुआ और न उसी रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका में । अमेरिका में उदारवाद स्वतन्त्रता तथा समानता के अन्य मुद्दों के साथ मिश्रित हो गया, जो कि जैफरसन तथा जैकसन की रचनाओं में व्यक्त हुआ । 19 वीं सदी के अन्तिम तथा 20वीं सदी के प्रारम्भ में "क्लासिकल" उदारवादी चिन्तन धारा में अन्य कई प्रगतिशील संशोधनात्मक पक्ष जुड़ गये । आधुनिक उदारवाद में स्वतन्त्रता के नकारात्मक पक्ष के स्थान पर उसके सकारात्मक पक्ष की निर्णायक भूमिका की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है । राज्य से स्वतन्त्रता की अपेक्षा स्वयं द्वारा निर्धारित तथा चयनित लक्ष्यों की सम्पूर्णता एवं सिद्धि की प्राथमिकता को सर्वोपरि माना है ।

कालान्तर में उदारवाद शब्द का प्रयोग वामपंथ के अन्त एवं उसके नियन्त्रण अर्थात् परिसीमित जीवन एवं संकीर्ण संरचना के आरोपण-विकल्प के रूप में भी किया गया । अनेक संदर्भों में मार्क्सवादी चिन्तन एवं प्रक्रिया के विकल्प के रूप में भी उदारवाद को स्वीकारा गया ।

जहां तक लोहिया की समाजवादी व्यवस्था तथा उसका उदारवाद से भिन्नता का प्रश्न है, इसको हम उदारवाद के तीन पक्षों पर दृष्टि नजर रखते हुए, देखने का प्रयास करेंगे[2] :—

प्रथम :

उदारवादियों द्वारा उदारवाद को अविचारधाराबद्ध अवधारणा मानने दावा किया जाता है । उनका मानना है कि उदारवाद किसी वर्ग विशेष की विचारधारा से जुड़ी अवधारणा नहीं है, क्योंकि इसका आधार आनुभाविक तथा व्यावहारिक है, यह चीजों को वास्तविक परिप्रेक्ष्य में देखता है । अतः वे इसे विचारधारा विरोधी दृष्टिकोण मानते हैं । किन्तु यह मत सही नहीं

---

1. स्मिथ, डी. जी. : "लिबरलिज्म" इंटरनेशनल एन साइक्लोपिडिया ऑव सोशल साइन्स, वो. 7, पृ. 276.
2. सामान्य रूप से उदारवादी मूल्यों तथा समाजवादी मूल्यों में पारस्परिक सम्बन्ध के लिये देखिए, एरबलास्टर, ए. : "लिबरल वैल्यूज एण्ड सोशलिस्ट वैल्यूज" मिलिबाड एड साविल : (सम्पादित) द सोशलिस्ट रजिस्टर, लन्दन : मेरलिन, 1972, पृ 83-105.

है। "यह सामान्यतः विचारधाराओं को अस्वीकार करता है, किन्तु अपनी स्वयं की विचारधारा स्थापित करता है।"[1] अक्सर यह कहा जाता है कि उदारवाद अमीरों की विचारधारा है। यह उन सर्वव्यापी मूल्यों का संग्रह है जो पूंजीवादी समाज के उद्भव तथा उसकी निरन्तरता को बनाये रखने का पक्षपाती है।[2] लोहिया ने उदारवाद तथा पूंजीवाद को समानान्तर अर्थ में स्वीकार किया। उसके अनुसार पूंजीवादी उत्पादन तन्त्र की निम्न विशेषतायें हैं :—[3]

(क) मुनाफावृत्ति और निजी सम्पत्ति।

(ख) एक-तिहायी भाग में उन्नत तकनीक तथा विकसित फैक्ट्री तथा दो-तिहायी भाग में निम्न उत्पादन तंत्र।

(ग) केन्द्रीयकरण तथा विशाल उत्पादन तंत्र।

(घ) दो-तिहायी मानव-जाति की राजनीति-आर्थिक हीनता की स्थिति।

ये वे मापदण्ड हैं, जिनसे तुलना करने पर लोहिया की व्यवस्था स्वतः ही पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्णतः भिन्न हो जाती है, क्योंकि लोहिया ने उक्त चार विशेषताओं से पृथक् लोक-कल्याण, विकेन्द्रीयकरण, छोटी-मशीनों पर आधारित उत्पादन तंत्र, दो-तिहायी मानव-जाति की राजनीतिक मुक्ति तथा आर्थिक समानता की प्राप्ति पर जोर दिया। लोहिया ने पूंजीवादी व्यवस्था का सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहा कि पूंजीवाद मुनाफे तथा स्वार्थ की बुनियाद पर खड़ा है और फलस्वरूप यह बेकारी, संकट तथा युद्ध को जन्म देता है। पूंजीपतियों की सदैव यह इच्छा बनी रहती है कि उसे सस्ते भाव पर मजदूर मिलते रहें। सस्ते मजदूर तभी मिल सकते हैं, जबकि देश में बेरोजगारी बनी रहे, अतः पूंजीवाद की हार्दिक इच्छा है कि इस देश में बेरोजगारी तेजी के साथ फैलनी चाहिए।

पूंजीवादी व्यवस्था समाज में संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देती है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों को अपने उद्देश्य प्राप्ति में पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है तथा इस पर कतई ध्यान नहीं दिया जाता कि इसके फलस्वरूप अन्यों

---

1. कार, ई. एच., द. न्यू सोसाइटी, लंदन : मेकमिलन, 1951, पृ. 16.
2. ग्रीन, के. के. ओ. : राइटिंग्स एण्ड पोलिटिक्स, लंदन, 1955 (भूमिका पृ. 13-14.)
3. लोहिया : बिल टू पावर एण्ड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, [illegible]

पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है स्वार्थपन, लालच तथा सामाजिक अन्यायों मे बढ़ोतरी। जबकि दूसरी तरफ लोहिया ने सभी व्यक्तियो में *"संभव समानता तथा समृद्धता" को अपनी समाजवादी व्यवस्था की* आवश्यक शर्तें मानी। अतः समाजवादी व्यवस्था से पूंजीवादी व्यवस्था सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक रूप से श्रेष्ठ है। यह उन हालातों को खत्म कर देती है, जिसके अन्दर कुछ लोग स्वयं धनी और शक्तिशाली बनने के लिए दूसरो को साधन बनाकर इस्तेमाल करते है। काट के शब्दों में उन परिस्थितियों को भी समाप्त कर देता है, जिसके अन्दर मनुष्य एक दूसरे को साध्य, साधन की तरह ही इस्तेमाल करता है।[1]

लोहिया मानना था कि—और जिसका सम्पूर्णानन्द[2] तथा आचार्य नरेन्द्रदेव[3] ने भी *समर्थन किया— पूंजीवादी व्यवस्था के संचालक व्यक्ति अपने* स्थिर स्वार्थों की पूर्ति हेतु अपने देश की स्वतन्त्रता को भी खतरे में डालने से नही हिचकते। उदाहरण के लिए फास के एक समुदाय ने हिटलर का स्वागत इसलिए किया कि कही जनता विद्रोह कर उस समुदाय के स्थिर स्वार्थो का लोप न कर दे।

कुछ लोगो का कहना है कि पूंजीवाद प्रगतिशील सिद्धान्त रहा। पिछडे देशो को सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक रूप से आधुनिक बनाने मे पूंजीवादी व्यवस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किन्तु लोहिया के अनुसार इस कथन में कोई सार नही है। पूंजीवाद विश्व की दो-तिहायी जनसख्या के लिए न तो कभी प्रगतिशील था और न ही रहेगा। बेलग्रेड मे एक प्रेस कॉन्फ्रेन्स मे बोलते हुए लोहिया ने कहा . "यूरोप और अमेरिका में मुक्त व्यापार और पूजीवाद का अर्थ चाहे जो हो, किन्तु एशिया में इसका अर्थ तो मुनाफा, चोर-बाजारी और शोषण के सिवा कुछ नही होता।"[4] पूंजीवादी व्यवस्था के शोषित स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लोहिया ने लिखा है, पूंजीवाद और उदारवाद के बारे मे कोई प्रमाण देने की जरूरत नही क्योकि उसका सारा इतिहास एशिया और अन्य रंगीन देशो के दमन और शोषण के साथ

1. ओमवोर्त, आर: "समाजवाद और नैतिक सिद्धांत", जन, वर्ष-1, अंक-1, जुलाई 1958, पृ. 9
2. सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, काशी . ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 181.
3. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, स . 2030, पृ. 391.
4. संघर्ष, वर्ष 14, अंक 35, 17 सितम्बर 1951, पृ. 1.

जुड़ा हुआ है। लगभग इसी प्रकार अशोक मेहता ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा : "कहा जाता है कि पूंजीवाद प्रारम्भ में प्रगतिशील था, क्योंकि उसमें समृद्धि बढ़ी। यह यूरोप के लिए तो सत्य है, किन्तु यह वृद्धि उपनिवेशों की लूट से हुयी। पश्चिमी यूरोप एशिया का शोषण करके समृद्ध हुआ। यहां पूंजीवाद किसी भी समय प्रगतिशील नहीं था, उससे एशियाई देशों में केवल गरीबी और कष्ट ही बढ़े।"[1] लोहिया ने माना कि पूंजीवादी देशों—ब्रिटेन-की सम्पन्नता तृतीय विश्व के शोषण का परिणाम है। लोहिया ने दादाभाई नौरोजी के समान विचार रखते हुए कहा कि इंगलैण्ड तीन प्रकार से भारत का शोषण कर रहा है :—लगायी हुई पूंजी से लाभ, वेतन तथा पेन्शन और बनाया हुआ माल तैयार करने वाले देशों के व्यापार के रूप मे। इस शोषण का परिणाम यह हो रहा है कि इंग्लैण्ड प्रतिवर्ष भारत से डेढ़ सौ करोड़ रुपये वसूल कर रहा है।

द्वितीय

उदारवादी चिन्तन में प्रजातन्त्र की अवधारणा के प्रति अस्पष्टता की स्थिति पायी जाती है। बैंथम के सामने विकल्प चयन प्रजातन्त्र तथा तानाशाही के बीच था। उसके अनुसार अधिकतम जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा सरकार निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाती है तो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की संभावना अधिक रहती है। बैंथम का प्राकृतिक अधिकारों में कोई विश्वास नहीं था तथा उन्हें अति औपचारिक तथा प्रकल्पित अधिकारो की संज्ञा दी। जबकि कई अन्य उदारवादी विचारकों ने इस आस्था के आधार पर लोकतांत्रिक निष्कर्ष निकालने शुरु किये तथा फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति से प्राप्त परिणामों के फलस्वरूप उच्च-मध्यमवर्ग प्रजातन्त्र में शका व्यक्त करने लगा। तभी से "लोकतान्त्रिक निरंकुशता" तथा "बहुमत का अत्याचार" शब्दो की आवाज आने लगी।

जे. एस. मिल तथा डि-टोक्यावली के अनुसार एक आदर्श सरकार बुद्धिमानों की सरकार होगी, जो संख्या में बहुत कम होगे। इसकी विपरीत स्थिति में प्रजातंत्र पूर्ववर्ती सरकारों से भी अधिक तानाशाह सिद्ध हो सकता है, क्योंकि (क) इसके साथ बहुमत का समर्थन होता है, जो अनुचित कार्यों को भी वैधानिक औचित्यता का जामा पहना देता है। (ख) प्रजातन्त्र में जनमत

1. संघर्ष, वर्ष 15, संख्या 34, 15 सितम्बर 1952, पृ. 4.

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु सिद्ध हो सकता है। मिल की ग्रॉन लिबरटी की सार वस्तु यह द्वितीय पक्ष ही है।

20वीं सदी मे लोकतंत्र को एक भिन्न अर्थ में लिया गया, जिसका प्रतिपादक शुम्पीटर थे। इस व्यवस्था को सी.बी. मेक्फरसन ने "इलिटिस्ट्-प्लुरलिस्टिक-ईक्विलिब्रियम् डमोक्रेसी" की संज्ञा दी है।[1] 1960 के लगभग नववामपंथियों ने "सहभागी लोकतंत्र" का नारा दिया। यह नीले तथा गोरे श्रमिकों के मध्य बढ़ते हुए रोजगार-असन्तोष तथा अलगाव की भावना के रूप मे आया। कालान्तर में इस भावना का प्रकटीकरण उद्योगों मे श्रमिक नियन्त्रण आन्दोलन के उदय के रूप में हुआ।[2]

लोकतन्त्र की अवधारणा के प्रति उदारवादियो में भिन्नता होते हुए भी कुछ मान्यताओ पर आज सहमति है, जैसे विचार-विनिमय, वयस्क-मताधिकार आदि। जहां तक लोहिया का प्रश्न है, उन्होंने लोकतन्त्र मे गहरी आस्था प्रकट की। किन्तु प्रजातन्त्र में अन्तः निहित अभिजात्यवादी उदार दृष्टिकोण का विरोध किया। लोहिया का मानना था कि हालाकि उदारवादी राजनीतिक सत्ता प्राप्ति हेतु स्वतन्त्र प्रतियोगिता मे विश्वास करते हैं, किन्तु भारत जैसे समाज में जहां गरीबी बहुत व्यापक है तथा जाति-धर्म के कारण समाज मे पदसोपानीय स्थिति पायी जाती है, वहा वे ही व्यक्ति सत्ता मे आ पाते हैं जो आर्थिक दृष्टि से सक्षम तथा समाज मे उच्च स्थिति प्राप्त किये हुए हैं। अतः लोहिया ने प्रजातन्त्र के उदार दृष्टिकोण को स्थिर, अन्तःविरोधात्मक तथा संकीर्ण माना। उनके शब्दो में "भारत मे जनतन्त्र की ऊपरी चमड़ी है, जिसे कुछ लोगों ने ओढ रखी है, जबकि जनतन्त्र की आत्मा का पूर्ण अभाव है।"[3]

जनतंत्र की अवधारणा की मान्यता है कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नो पर खुले वाद-विवाद तथा विचार विनिमय की छूट होनी चाहिए। लोकतन्त्र में निर्णय चाहे किसी भी स्तर पर लिये जायें उनमें जोर

---

1. मेकफरसन, सी. बी. : द लाइफ एण्ड टाइम ऑव् लिबरल डेमोक्रेसी, लंदन : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1977, पृ. 70.
2. वही, पृ. 93.
3. पित्ती, बी. बी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. : (सम्पादित), लोकसभा में लोहिया, हैदराबाद, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1974, भाग-6, पृ. 75.

जबरदस्ती के तत्व की बजाय विचार-विमर्श तथा वाद विवाद के आधार पर हो तथा सभी व्यक्तियों को मताधिकार का अधिकार प्राप्त हो। लोहिया ने कहा कि भारत में जनता की सामाजिक तथा आर्थिक अधीनस्थता, इस स्थिति से वंचित कर देती है। जैसाकि लास्की ने लिखा है—"प्रजातंत्रीय राज्य संस्था मे जहां आर्थिक शक्ति की बड़ी विषमतायें होती हैं, निर्धन मनुष्यों मे मुख्य विशेषता तो यही होती है कि उनमें ये बातें नहीं होती। वे नही जानते कि उनके पास भी कुछ शक्ति है.......... उनकी सीधी पहुंच उनके ऊपर शासन करने वाले व्यक्तियों तक नही होती।"[1]

इस संदर्भ मे सम्पूर्णानन्द ने आर्थिक समानता पर अधिक जोर दिया। उन्होंने डेलाइम बर्न्स की इस उक्ति में पूर्ण विश्वास प्रकट किया कि दरिद्रता लोकतन्त्र को असंभव बना देती है। उनके अनुसार "आर्थिक विषमता के आगे राजनीतिक समता की एक नहीं चलती —.........लोकतंत्र शासन तथा व्यापक मताधिकार से कुछ नही हो सकता। घोर आर्थिक विषमता के रहते हुए, राजनीतिक समता व्यर्थ है।"[2] साथ ही उन्होंने कहा कि आधुनिक लोकतन्त्रों मे चुनाव कार्यों पर इतना पैसा खर्च होता है, जिसे साधारण व्यक्ति वहन नही कर सकता। अतः स्वतः ही शासन प्राप्ति की प्रतियोगिता सीमित बन जाती है। जयप्रकाश नारायण ने दो तत्वों को महत्वपूर्ण माना (क) पिछड़ी अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास हो तथा आर्थिक लोकतन्त्र लाया जाये (ख) उत्पादन की अपेक्षा वितरण पर ध्यान केन्द्रित किया जाये। उन्ही के शब्दों में—"सारा जोर आज उत्पादन 'पर है, वितरण के प्रश्न की चर्चा चलते-चलते हो जाती है। इस ढंग से मुझे लोकतन्त्र के विनाश के बीज दिखते हैं। यही, मेरी दृष्टि में, हमारे देश में लोकतन्त्र के प्रति चुनौती है। यदि उस चुनौती का पूर्णरूप से सामना नही किया जाता, तो लोकतन्त्र का विनाश निश्चित ही समझिये।"[3] आगे चलकर जयप्रकाश ने अपनी विचार-धारा में संशोधन करते हुए कहा कि लोकतन्त्र की प्राप्ति वयस्क मताधिकार के आधार को व्यापक बनाने से ही संभव है। यह तभी संभव हो सकता है, जबकि पंचायतीराज व्यवस्था को अपनाया जाये, जिसे उन्होंने "सहभागी लोकतंत्र" की संज्ञा दी। यहां यह स्पष्ट कर देना उल्लेखनीय होगा कि

1. लास्की, एच. जे.: एन इन्टरोडक्शन टू पोलिटिक्स, लंदन: जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1951, पृ. 19-20.
2. सम्पूर्णानंद: समाजवाद, काशी: ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 75, 77.
3. नारायण, जयप्रकाश: समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, पटना, 1973, पृ. 277.

जयप्रकाश का "सहभागी लोकतंत्र" नववामपंथियों के "सहभागी लोकतन्त्र" से पूर्णतः भिन्न है। आचार्य नरेन्द्र देव का मुख्य आग्रह था कि लोकतन्त्र अभ्यास तथा परम्परा की वस्तु है, अतः दूसरे देश की लोकतांत्रिक पद्धति कोई नवजात राष्ट्र के लिए प्रगतिसूचक नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यक है कि तद्नुकूल भावनायें विकसित की जायें तथा इसका वातावरण सतत् प्रयत्नों द्वारा तैयार किया जाये। इस प्रकार देखते हैं कि सम्पूर्णानन्द तथा जयप्रकाश ने आर्थिक पक्ष और नरेन्द्र देव ने परम्परागत अभ्यास पर जोर दिया वहां लोहिया ने आर्थिक पक्ष के साथ सामाजिक पक्ष को भी महत्वपूर्ण माना। सामाजिक पक्ष, जो कि भारतीय व्यवस्था का एक प्रमुख निर्धारक तत्व है, को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते।

तृतीय

उदारवादियों के पदसोपानीय मूल्यों में स्वतन्त्रता की धारणा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। उदारवादियों द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता पर जोर दिया गया। किन्तु उदारवाद में राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा सबसे अधिक महत्व "व्यक्ति की स्वतन्त्रता" को दिया गया। उनके अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्र अहस्तक्षेपनीय है। इस प्रकार उदारवादी धारणा व्यक्ति को समाज से पृथक् कर देती है। समाज व्यक्ति को अपने मूल्यों को विकसित करने तथा निर्णयों का निर्माण करने के लिए कोई निर्देशन नहीं दे सकता। व्यक्ति अपने निर्णयों, कार्यों, इच्छाओं आदि का निर्णायक स्वयं होता है। व्यक्ति स्वतः निर्देशित तथा स्वतः आगे की ओर अग्रसर होता है। अर्थात् इन अर्थों में व्यक्ति स्वयं में पूर्ण होता है। उसकी इच्छायें, आकांक्षायें, प्रेरित लक्ष्य, उत्कण्ठायें उसकी 'स्वयं' की होती हैं तथा समाज विभिन्न व्यक्तियों के योग या एकत्रीकरण से ज्यादा नहीं होता।

यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या लोहिया की समाजवादी व्यवस्था की धारणा में भी स्वतन्त्रता को सामान्य रूप से तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को विशिष्ट रूप से, वही स्थान मिलता है। यह सही है कि लोहिया की चिन्तन संरचना में स्वतन्त्रता को प्रमुख स्थान मिला है। स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर बल देने में लोहिया उदारवादी दृष्टिकोण के बहुत निकट हैं, लेकिन उनकी मान्यता में राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ स्वतन्त्रता का आर्थिक तथा सामाजिक पक्ष भी उतना ही उभर कर आया।

लोहिया ने "स्वतन्त्रता" के साथ "रोटी" को भी उतना ही महत्व दिया। उसके मतानुसार सोवियत रूस "रोटी" प्रदान करने के प्रतिनिधित्व

का फायदा लेना चाहता है तथा उसका कहना है कि दो-तिहाई दुनियां को रोटी पर विजय दिलाने के लिए साम्यवादी व्यवस्था ही एकमात्र विकल्प है। वहां पश्चिमी व्यवस्था के अनुकर्ताओं का मानना है कि "स्वतन्त्रता" के लिये उदारवादी विचारधारा आवश्यक है। इस प्रकार साम्यवादी तथा उदारवादी व्यवस्थायें "रोटी" और 'स्वतन्त्रता" में द्वन्द्व पैदा कर देती हैं। किन्तु लोहिया ने स्पष्ट किया कि इस विषय पर द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से सोचना गलत है। रोटी तथा स्वतन्त्रता एक दूसरे से पूर्णतया जुड़े हुये हैं, उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। लोहिया के शब्दों मे : "रोटी और स्वतन्त्रता की बात मैं समझ सकता हूं, लेकिन लोग जब यह कहते हैं कि एशियावासी रोटी ज्यादा चाहते है या स्वतन्त्रता, तो मैं जल उठता हूं। इससे तो ऐसा लगता कि जब एशिया वालों का पेट नहीं भरेगा, उन्हें आजादी और लोकतन्त्र मे कोई रुचि नहीं है। स्वतन्त्रता और रोटी को अलग नहीं किया जा सकता। कम से कम एशिया में, ये दोनों चीजें न हमें साम्यवाद दे सकता है और न पूंजीवाद।"[1] लोहिया के अनुसार दो-तिहाई दुनियां में रोटी और स्वतन्त्रता अविभेद्य हैं। इन दोनों स्वतन्त्रताओं के साथ लोहिया के चिन्तन में सामाजिक स्वतन्त्रता भी प्रमुख है। उसके अनुसार इसके बिना "खुली व्यवस्था मे आंतरिक अधीनता" की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आचार्य नरेन्द्र देव ने स्वतन्त्रता के आर्थिक पक्ष पर जोर दिया तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को गौण माना। उन्ही के शब्दों मे : "सच्चा स्वराज्य राजनीतिक नहीं आर्थिक ही हो सकता है।"[2] जहां तक जयप्रकाश का प्रश्न है, उसके चिन्तन मे अस्पष्टता की स्थिति पायी जाती है। शुरू में उन्होंने खुले रूप से स्वतन्त्रता के आर्थिक पक्ष का विवेचन किया। वही आगे चलकर उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता पर बल दिया। यहां उन्होंने कहा कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का किसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता से सौदा नही कर सकते। उन्ही के शब्दों में : "स्वतन्त्रता मेरे जीवन की वासना बन गयी है और मैं हरगिज उसका सौदा रोटी के लिए——समृद्धि के लिए या किसी अन्य वस्तु के लिए नही करूंगा।"[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां लोहिया ने स्वतन्त्रता के

---

1. उद्धृत, केलकर, इन्दुमति : लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 239.
2. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2030, पृ. 457-58.
3. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतंत्र, पटना, 1973, पृ. 269.

राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पक्ष पर समान महत्व दिया, वहीं अन्य समाजवादियो ने स्वतन्त्रता के प्रति एकांगी दृष्टिकोण अपनाया।

जहां तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रश्न है, लोहिया का चिन्तन बहुत कुछ मिल के निकट है। किन्तु उदारवादी मान्यता और लोहिया की समाजवादी धारणा मे तात्विक अन्तर है। लोहिया ने इस मत को कभी स्वीकार नही किया कि व्यक्ति तथा समाज में द्वन्द्व की स्थिति पायी जाती है। अर्थात् व्यक्ति समाज की बिना परिपूरता के पूर्ण है। लोहिया ने व्यक्ति तथा समाज मे अन्योन्याश्रिता की स्थिति पायी।

उदारवादी व्यवस्था के उक्त आधारो का जो विवेचन किया गया तथा लोहिया का उनके प्रति क्या दृष्टिकोण रहा, देखने से स्पष्ट है कि उदारवादी मूल्यों तथा लोहिया के समाजवादी मूल्यों मे मौलिक अन्तर है। उदारवादी व्यवस्था पूंजीवादी मूल्यो को बनाये रखने की पक्षपाती है, जिससे स्वतन्त्रता, विशेषकर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, पर जोर दिया जाता हैं तथा इसमे जुड़े अन्य मुद्दो को गौण माना जाता है। अतः उदारवाद व्यक्ति तथा समाज के सहअस्तित्वपूर्ण विकास का दर्शन नही हैं। जबकि दूसरी तरफ लोहिया ने अपनी समाजवादी व्यवस्था में उन मूल्यो को स्वीकार किया, जिसमे व्यक्ति तथा समाज की अधिकतम हितवृद्धि हो सके।

4. भारतीय चिन्तन परम्परा से सम्बन्ध

गांधी के प्रति दृष्टिकोण :

लोहिया गांधी से बहुत प्रभावित थे। सन् 1920 मे लोहिया ने गांधी के असहयोग आन्दोलन के आव्हान् पर स्कूल छोड़ दिया था। लोहिया ने लिखा है : 'सन् 1919-20 में गाधी की पहली असहयोग की पुकार पर मेरी उम्र के 9 या 10 वर्ष के विद्यार्थियो ने स्कूल छोड दिया था। मेरे पिता मुझे गांधी के पास ले गये, उस घटना के सम्बन्ध मे मुझे इतना याद है कि मैंने उनके पैर छुए और उन्होने मेरी पीठ थपथपायी।....मैंने गाधीजी के सिवाय् अपने परिवार के बाहर वाले व्यक्तियो मे कभी किसी के पांव नही छुए।"[1]

लोहिया के अनुसार वर्तमान सदी मे दो बड़े मौलिक आविष्कार हुए। एक महात्मा गांधी का उद्गम तथा दूसरा अणुबम की खोज। किन्तु उन्होने

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 140.

अणुबम की अपेक्षा गांधी को अधिक महत्व दिया, क्योंकि गांधी केवल अन्याय का प्रतिकार है, वहां अणुबम अन्याय का प्रतिकार भी है और अन्याय करने वाला भी है, अर्थात् अणुबम सकारात्मक भूमिका के साथ नकारात्मक भूमिका भी निभाता है, जबकि गांधी में सकारात्मक भूमिका प्रमुख है। किन्तु लोहिया ने चेतावनी दी कि गांधी का नाम आज धूमिल होता जा रहा है तथा उसके सिद्धान्त लोकजीवन से दूर होते चले जा रहे हैं। अगर यही प्रक्रिया चलती रही तो भारत पाश्चात्य तथा साम्यवादी व्यवस्थाओं की प्रतिलिपि मात्र रह जायेगा और एक "निजी भारतीय" समाजवादी व्यवस्था, जिसका कि आधार गांधीवाद हो सकता है, का निर्माण कर पाना असंभव होगा। लोहिया ने पुरजोर शब्दों में मांग की कि भारत के समाजवाद का यह प्रमुख कृत्य है कि वह गांधी के परिष्कृत सिद्धान्तों को वैचारिक एवं व्यावहारिक आधार के रूप में अपनाये। लोहिया ने गांधी के चिन्तन के चार प्रमुख मुद्दों—सत्याग्रह, साधन-साध्य का सिद्धान्त, छोटी-मशीनी-तकनीक तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकरण—में अपनी सहमति व्यक्त की।

1. गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के सिद्धान्त में लोहिया ने विश्वास प्रकट किया। लोहिया के अनुसार यूरोप परिवर्तन के केवल दो प्रकार के साधनों—संसदीय साधन तथा क्रान्तिकारी साधन—से ही परिचित है। लोहिया के अनुसार गांधी ने हमें सत्याग्रह के रूप में तीसरा विकल्प सुझाया। इस संदर्भ में गांधीवाद की देन का विवेचन करते हुए, लोहिया ने लिखा है : "बुराई के विरोध के लिए जनता के सिद्धान्त के रूप में पूरे इतिहास में गांधीवाद की कोई सानी नहीं है। सिविल-नाफरमानी व्यक्तिगत आदत और एक सामूहिक निश्चय में, दोनों ही रूपों में एक सशक्त विचार है, इसके अतिरिक्त और कोई भी चीज या तो एक कमजोर विचार है अथवा अनुचित शक्ति। यह सिविल-नाफरमानी गांधीजी की मानवता को एक देन है।"[1] लोहिया ने संसदीय तथा क्रान्तिकारी साधन—दोनों प्रकार के साधनों की अपूर्णता का उल्लेख किया। संसदीय साधनों की अपूर्णता का विवेचन करते हुए लोहिया ने कहा : "मेरा विश्वास है कि संसद हमेशा ही परिवर्तन की संतोषजनक ऐजेन्सी सिद्ध नहीं हो सकती। विशेषकर तीसरी दुनिया में जहां दो-तिहाई जनता दुःख-दारिद्र्य से जकड़ी हुयी है। वहां संसदीय तरीके अक्सर अपर्याप्त ही होंगे।"[2] जहां तक क्रान्तिकारी साधनों का प्रश्न है लोहिया ने उसको भी

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, (भूमिका पृ. 17.)
2. वही, पृ. 126.

उतना ही निरर्थक माना। खूनी क्रान्ति द्वारा न परिवर्तन स्थायी होता है और न ही परिवर्तन का उपयुक्त लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। लोहिया ने अन्यायपूर्ण कानूनो तथा समाज मे व्याप्त अत्याचारो का विरोध करने के लिए गांधी द्वारा रखे गये अहिंसात्मक नागरिक अवज्ञा के सिद्धान्त को स्वीकृति दी।

गांधी के सत्याग्रह के सिद्धान्त पर लोहिया की सैद्धान्तिक सहमति होते हुए भी दोनों की चिन्तन संरचनाओ में दो तात्विक अन्तर दिखायी देते हैं। प्रथम, गांधी ने अपने सत्याग्रह दर्शन को नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होने सत्याग्रह का आधार ईश्वर, सत्य तथा धर्म को माना। सत्य के संदर्भ मे उन्होने कहा : 'सत्याग्रह का आधार सत्य है। वह एक ऐसा अस्त्र है, जिसका प्रभावकारी उपयोग केवल वे ही कर सकते हैं, जो कभी रक्तपात पर विश्वास नही रखते।"[1] गांधी के अनुसार सत्याग्रही के पीछे ईश्वर की शक्ति होती है, जिसके कारण ही वह अत्याचारी तथा आततायी की निर्दय शक्ति को सहन करता है। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे चेतावनी दी कि जो सत्याग्रही सत्य, ईश्वर तथा धर्म मे विश्वास नही करेगा, उसे अन्ततः असफलता ही हाथ लगेगी। गांधी के शब्दों में : "सत्याग्रही का बल ईश्वर ही है .... वह बाहरी बल पर भरोसा नही रखता, ईश्वर पर विश्वास भीतरी शक्ति है। इसलिए जो उसे नही मानता, वह अंत मे हारेगा।"[2] दूसरी तरफ लोहिया ने सत्याग्रह-सिविल-नाफरमानी—के प्रति कोई नैतिक आग्रह प्रकट नही किया और न ही यह माना कि इसकी असफलता का कारण ईश्वर, सत्य तथा धर्म मे विश्वास का न होना है। लोहिया ने सिविल-नाफरमानी के सिद्धान्त की पूर्ण निरपेक्ष अर्थ में व्याख्या की। द्वितीय, लोहिया ने सिविलनाफरमानी-नागरिकअवज्ञा-अहिंसात्मक हडताल तथा धरना आदि मे तो आस्था प्रकट की, किन्तु उपवास—जिसे कि गाधी की सत्याग्रह योजना में एक महत्वपूर्ण साधन माना गया—मे लोहिया का कोई विश्वास नही था। गांधी ने उपवास को "सत्याग्रह का आग्नेय अस्त्र" कहा, जो कभी निष्फल नहीं जा सकता।"[3] हालाकि गांधी ने माना कि उपवास का उद्देश्य स्वयं

---

1. इण्डियन ओपिनियन, 7 अक्टूबर 1911, सम्पूर्ण गाधी वाङ्मय, नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1964, खण्ड 11, पृ. 158.
2. गांधी सेवा सघ सम्मेलन, वृन्दावन, बिहार, 3 जून 1939, पृ. 6.
3. हरिजन, 13 अक्टूबर 1940, पृ. 332, साथ ही, द कलेक्टेड वर्क्स ऑव् महात्मा गांधी, दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑव इण्डिया, 1978, वो. 73, पृ. 91.

सत्याग्रही की आत्मशुद्धि भी है। उपवास द्वारा अपने को कष्ट देकर सत्याग्रही स्वयं अपने दोषों तथा अपनी भूलों को सुधार सकता है। परन्तु उपवास के प्रति उनका आग्रह सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण तथा राजनीतिक अत्याचार के विरुद्ध सत्याग्रह के साधन के रूप में ही था। उपवास की प्रभावशीलता के विषय मे अपने व्यक्तिगत अनुभवों का उल्लेख करते हुए गांधी ने लिखा : "भारत और दक्षिणी अफ्रीका मे मेरा बार-बार यही अनुभव रहा है कि यदि उपवास का सही ढंग से प्रयोग किया जाये तो यह सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय है। साधारण लोग केवल हृदय की भाषा ही समझते हैं और पूर्णत: निस्वार्थ होकर किया गया उपवास हृदय की भाषा है।"[1]

लोहिया की उपवास में कोई आस्था नहीं थी तथा इस प्रश्न पर अशोक मेहता तथा आचार्य नरेन्द्र देव भी लोहिया के निकट हैं, किन्तु जयप्रकाश नारायण ने उपवास मे पूर्ण सैद्धान्तिक सहमति व्यक्त की। 14 जुलाई 1952 को अपने तीन सप्ताह के अनशन को समाप्त करते समय अपने अनशन पर टिप्पणी करते हुए जयप्रकाश ने कहा : "जैसे-जैसे उपवास के दिन गुजरते गये, उपवास आत्मशुद्धि के बलिदान के रूप में विकसित होता गया और प्रतिदिन नयी आन्तरिक शक्ति मिली तथा कभी-कभी अप्रत्याशित अनुभव हुए। प्रारम्भ में मैं आत्मशुद्धि के रूप में कोई कार्य करने का दावा करने से हिचकिचाता था। अपना व्यक्तित्व इतनी कमियों और बुराइयों से भरा हुआ था कि कम से कम सार्वजनिक रूप से आत्म-शुद्धि की बात करना आत्म-श्लाघा प्रतीत होती थी। लेकिन मुझे इसमे राव साहब, अच्युत पटवर्धन और डॉ. दिनेश मेहता के द्वारा मार्ग दर्शन और प्रोत्साहन मिला......— मैं यह कह दूं कि उपवास मेरे लिए आत्म-शुद्धि का अनुभव रहा।"[2] दूसरी तरफ लोहिया ने गांधी तथा जयप्रकाश द्वारा किये जाने वाले अनशनों की आलोचना की तथा स्पष्ट शब्दों में कहा कि राजनीतिक उद्देश्य प्राप्ति के साधन के रूप में हम उपवास को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इसके द्वारा होने वाला लाभ साधन की शुद्धता के आधार पर नहीं बल्कि जनता द्वारा अपनी स्वस्थ इच्छाओं को दबाकर किये गये सहयोग के कारण होता है। बम्बई के कपड़ा मजदूरों की मांगो के समर्थन में जयप्रकाश द्वारा किये गये अनशन पर लोहिया ने अशोक मेहता के साथ एक संयुक्त वक्तव्य में कहा : "हमने जुलाई 1942

---

1. शुक्ल, सी. एस. : कनवरसेशन ऑव् गांधीजी, बम्बई : भारतीय विद्या भवन, 1951, पृ. 187.
2. संघर्ष, वर्ष 15, संख्या 29, 28 जुलाई 1952, पृ. 1.

में गाधी के प्रस्तावित अनशन और उसकी गलती के सम्बन्ध में गाधीजी से तीन बार भेंट की थी। बिना उपवास के आध्यात्मिक या राजनीतिक उपयोग को स्वीकार किये ही हम गाधीजी को एक तर्क बताना चाहेंगे कि अगर उनके अनशन का फल लाभप्रद हुआ तो वह उनकी व्यक्तिगत योग्यता के कारण *नहीं वरन् जनता से मिलने वाले सहयोग के कारण होता है*............ जयप्रकाश कहते हैं कि उनका उपवास पूर्णतः व्यक्तिगत प्रश्न है। लेकिन शरीर को होने वाली हानि को देखकर जनता अपनी स्वस्थ भावनाओं को दबाकर ही अविचलित रह सकती है।"[1] हालांकि लोहिया का उपवास मे सैद्धान्तिक विश्वास नही था किन्तु उन्होंने कभी भी बल-प्रयोग का समर्थन नहीं किया। किन्तु उनसे भिन्न नरेन्द्र देव ने अनशन की अपेक्षा बल प्रयोग को ज्यादा प्रभावशाली साधन बताया। उन्ही के शब्दों मे : "मैं सामान्यतः अनशन का विरोधी हूं। अनशन की अपेक्षा बल प्रयोग मैं कही ज्यादा अच्छा समझता हूं। ऐसे बहुत कम अवसर हैं, जब अनशन का प्रयोग ठीक समझा जा सकता है। पार्टी के लोग बहस करते समय तो कहेंगे कि अनशन को मार्क्सवाद में स्थान *नही है किन्तु अवसर आने पर जिसको देखिये वही अनशन कर बैठता है* और पार्टी को परेशानी मे डाल देता है। इसका कारण यह है कि यह चीज हवा में है और हवा से बचना मुश्किल है।"[2] ये दो तत्व हैं, जो सत्याग्रह के प्रश्न पर गांधी तथा लोहिया के चिन्तन मे कुछ अन्तर ला देते हैं। अतः स्पष्ट है कि लोहिया द्वारा गांधी के सत्याग्रह को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसे भिन्न रूप दिया।

2—गाधी द्वारा प्रस्तुत साधन-साध्य-सातत्य सिद्धान्त में लोहिया की पूर्ण आस्था थी। जौन बोन्दुरां के शब्दों मे : "गाधी का सबसे बड़ा आग्रह लक्ष्यो और साधनो मे उचित सम्बन्ध की स्थापना करने पर है।"[3] गाधी के अनुसार यदि हम अच्छे लक्ष्यो को प्राप्त करना चाहते हैं तो बुरे साधनो के द्वारा उन्हें कदापि प्राप्त नही कर सकते। जैसे साधन होंगे वैसी ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी। उन्ही के शब्दो मे, "जैसे साधन होंगे वैसी ही उपलब्धि होगी। साधनो और परिणामों के बीच, उन्हें एक दूसरे से अलग कर देने वाली, कोई दीवार नही है—.......*अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति ठीक उसी मात्रा मे होती है,*

---

1. सघर्ष, वर्ष 15, सख्या 26 7 जुलाई 1952, पृ. 5.
2. देव, नरेन्द्र : मार्क्सवाद और सोशलिस्ट पार्टी, लखनऊ, 1951, पृ. 4.
3. बोदुरा, जौन वी, : कॉनक्वेस्ट ऑव वायलेंस : द गाधीयन फिलॉसफी ऑव कोन्फ्लिक्ट, बम्बई : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965, पृ. 193.

जिसमें अच्छे साधनों का प्रयोग किया जाये। यह एक ऐसा सत्य है, जिसका अपवाद हो ही नहीं सकता।"[1] साधन-साध्य के सम्बन्ध में गांधी बार-बार यह दोहराते थे कि मेरे जीवन मे साधन-साध्य पर्यायवाची शब्द है। गांधी के पूर्ण समान रूप से लोहिया ने भी यही माना कि साधन-साध्य अन्तर्परिवर्तनीय है। थोड़े समय के लिए साधन, साध्य होते है, तथा लम्बे समय मे साध्य, साधन बन जाते हैं। लोहिया ने पूर्णतः गांधी की भाषा में बोलते हुए कहा कि जैसे साधन होगे, वैसा ही साध्य होगा। बुरे साधनों द्वारा अच्छे साध्य की कल्पना नहीं कर सकते। लोहिया के शब्दों मे : "सत्य की विजय झूठ से, स्वास्थ्य की प्राप्ति हत्याओं से, एक राष्ट्र द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति दूसरे राष्ट्र की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को खत्म करके, प्रजातन्त्र की प्राप्ति तानाशाही द्वारा कदापि संभव नहीं है।"[2]

प्रत्येक कार्य के औचित्य सिद्ध करने वाले तथा भविष्य को वर्तमान से जोड़ने वाले गांधी के "वन स्टेप इनफ् फॉर मी" के सिद्धान्त मे लोहिया ने विश्वास प्रकट किया। लोहिया ने उन लोगों की आलोचना की, जो तात्कालिकता के सिद्धान्त को अस्वीकार करके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करते हैं, अर्थात् तात्कालिक साधन के औचित्य की अपेक्षा दूरवर्ती लक्ष्य को तरफ देखते हैं। उनके अनुसार "आज विश्व भविष्य के बारे मे काफी सोचने लगा है, भविष्य के बारे मे लक्ष्य चाहे कुछ भी निर्धारित किये जायें, किन्तु वर्तमान का बलिदान अवश्य हो जाता है। व्यक्ति अपने द्वारा तुरन्त उठाये जाने वाले कदमो की तरफ पर्याप्त ध्यान नही देता है, अतः सामूहिक जीवन में कुछ सदेहास्पद स्थिति पैदा हो जाती है। जब यह पूछा जाता है कि एक तत्कालीन तथा विशेष कार्य लक्ष्य से किस प्रकार जुडा हुआ है तो बताया जाता है कि "अगले कार्य तक इंतजार करो", जब वह अगले कार्य तक इन्तजार करता है तो उससे फिर कहा जाता है "फिर अगले कार्य तक और इन्तजार करो", इस तरह कार्यों की शृंखला बढती जाती है और एक कार्य भी अपने आप में औचित्यपूर्ण नही होता। इनका औचित्य निरन्तर आगे आने वाले कार्यों से सिद्ध किया जाता है जो कभी आता ही नही और इस तरह शृंखला बढ़ती चली जाती है। सत्य व विश्वशान्ति के नाम पर दुष्टता, भ्रष्टता अपना घेरा बनाती जाती है।"[3] लोहिया के अनुसार सुन्दर भविष्य

---

1. यग इंडिया, 17 जुलाई 1924, द कलेक्टेड वर्क्स आव् महात्मा गांधी, दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑव इण्डिया, 1967, वो. 24, पृ. 296.
2. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 122.
3. वही, पृ. 123-24.

की प्राप्ति के लिए वर्तमान को अस्वीकार कर देना भ्रम है। अतः लोहिया ने गांधी द्वारा व्याख्यापित "वन स्टेप अनफ् फॉर मी" के सिद्धांत पर जोर दिया, जो कि भविष्य को वर्तमान से अर्थात् साध्य को साधन जोड़ता है।

3. गांधी के चिन्तन का तृतीय पक्ष जिसे कि लोहिया ने सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया, छोटी-मशीनी-तकनीक था । लोहिया का मानना था कि भारत जैसे अविकसित देश में जहा मानव-शक्ति की बाहुल्यता तथा लागत पूंजी की कमी है, वहा छोटी-मशीनी-योजना पर ही देश विकास कर सकता है तथा देश मे व्याप्त बेरोजगारी की समस्या को दूर किया जा सकता है। किन्तु इस संदर्भ मे लोहिया का दृष्टिकोण गांधी से कही ज्यादा उदार था। गांधी की औद्योगिक अर्थव्यवस्था का केन्द्र बिन्दु-चरखा था। उनके अनुसार वृहद् उद्योगों का आधार शोषण है। अतः शोषणमुक्त व्यवस्था स्थापित करने मे प्रधान वस्तु चरखा है और उसी को धुरी बनाकर स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार जगह-जगह दूसरे उद्योग चलाये जायें।[1] *हिन्द स्वराज्य में गांधी ने हर तरह की मशीनो का विरोध किया।* दूसरी तरफ *लोहिया ने गाधी से भिन्न लघु-मशीनो को तेल तथा विद्युत शक्ति से संचालित* करने की आवश्यकता पर जोर दिया। छोटी-इकाई-सिद्धान्त के बारे में गांधी से तुलना करते हुए लोहिया ने कहा : "हम महात्मा गांधी का मूत नही चाहते, उसका सिद्धान्त चाहते हैं।" गांधी की अर्थव्यवस्था का मूल्याकन करते हुए लोहिया ने कहा : "गांधीवाद की · आर्थिक विचारधारा ने विश्व के किसी भी तबके को विशेष प्रभावित नही किया है। पिछड़े हुए देशों के लोगों के लिए यह एक उपहास है और विकसित लोगो के लिये एक मजाक।"[2] लोहिया ने माना कि हालांकि भारतीय अर्थव्यवस्था में चरखे के महत्व को अस्वीकार नही कर सकते, किन्तु उसे औद्योगिक व्यवस्था का आधार नहीं कह सकते। लोहिया के शब्दों मे : *"यद्यपि चरखा क्षण-भंगुर नहीं है, फिर भी यह शाश्वत तो* नही। आवश्यकता है कि गांधीजी की विचारधारा को तत्काल क्रिया के लिए पूर्ण समर्थ, इस तरह का बनाया जाये कि दीर्घकालीन-क्रियात्मकता को भी

---

1. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1976, भाग 64, पृ. 244.
2. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963 (भूमिका पृ. 14.)

उतना ही योग दे सके।"[1]

4. अन्तिम सिद्धान्त जिसे कि विचारधारा के आधार पर लोहिया ने गांधीवाद से स्वीकारा है, राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त है। गांधी का मानना था कि केन्द्रीकरण का तात्पर्य हिंसा की क्रियान्विति है। अहिंसा व्यावहारिक रूप में तभी प्रभावकारी रह सकती है, जबकि विकेन्द्रीकृत व्यवस्था हो। केन्द्रीयकृत व्यवस्था में मानव गौण पड़ जाता है तथा उसकी स्वतन्त्रता एवं प्रतिष्ठा गिर जाती है। गांधी ने कहा: "राज्य वह सबसे अच्छा है, जहां शासन कम से कम होता है।"[2] गांधी की भांति लोहिया ने भी माना कि केन्द्रीयकरण प्रशासकीय क्षमता के प्रतिकूल है। विकेन्द्रीकरण प्रशासकीय शाखाओं में नयी शक्ति भर देता है तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व की वृद्धि के लिए पूर्ण अवसर प्रदान करता है। विकेन्द्रीकरण पर यहां इतना विवेचन ही काफी है, क्योंकि आगे चलकर इसके व्यावहारिक पक्ष पर व्यापक प्रकाश डाला जायेगा।

जैसाकि पीछे संकेत दिये जा चुके हैं ऐसा नही है कि लोहिया ने गांधी के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता अर्थात् अन्धभक्ति का प्रदर्शन किया हो। बहुत से ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर लोहिया ने गांधी से भिन्न मत अपनाया:—

प्रथम

गांधी के चिन्तन में आध्यात्मिक तथा पारलौकिक तत्वों—ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि—की प्रमुखता है। ईश्वर की उपस्थिति को उन्होंने विश्व रचनामूलक, कारणमूलक तथा प्रयोजनमूलक युक्तियां देकर सिद्ध करने की कोशिश की। ईश्वर के सम्बन्ध में अपने मत को स्पष्ट करते हुए गांधी ने कहा. "मैं स्पष्ट देखता हूं कि जहां मेरे चारों तरफ प्रत्येक वस्तु सदा परिवर्तनशील है, सदा मृत्य है, वहां उस सकल परिवर्तन के अन्तराल में एक जीती-जागती शक्ति है, जो बदलती नहीं, जो सबको एक साथ पकड़े हुए है, जो रचना करती है, विनाश करती है और पुनः निर्माण करती है। वह सर्वोत्तर निर्मात्री शक्तियां आत्मा ईश्वर है।"[3] ईश्वर की भांति गांधी ने आत्मा की अमरता, कर्मवाद तथा पुनः जन्म में भी

---

1. लोहिया: मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद: नवहिन्द, 1963, (भूमिका पृ. 13).
2. हरिजन, 25 अगस्त 194', द कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मा गांधी, दिल्ली: पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑव इंडिया, 1978, वो 72, पृ. 389
3. गांधी, एम. के: हिन्दू धर्म, अहमदाबाद: नवजीवन, 1950, पृ. 65

विश्वास व्यक्त किया। दूसरी तरफ जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, लोहिया का ईश्वर, आत्मा तथा पुनर्जन्म में कतई विश्वास नही है, जो कि गांधी के चिन्तन के मुख्य आधार हैं। एक बार गांधी ने लोहिया से पूछा था कि क्या तुम ईश्वर मे विश्वास करते हो ? इस बात पर लोहिया ने उत्तर "नही" मे दिया था। तब गांधी ने शंका व्यक्त करते हुये कहा कि तुम (लोहिया) कभी भी अच्छे सत्याग्रही नहीं बन सकते। हालांकि लोहिया ने राम, कृष्ण, शिव, गणेश आदि पौराणिक तत्वो का प्रयोग अवश्य किया, किन्तु गांधी की भांति उन्होने उन्हें केवल भारतीय समाजवादी मानस को विकसित करने के प्रतीक रूप मे ही स्वीकार किया।

द्वितीय

गांधी ने धर्म और राजनीति के सम्मिश्रण पर जोर दिया। उन्होने धर्म और राजनीति मे कोई अन्तर नही माना। गांधी के शब्दों में : "मेरा जीवन धर्म के सहारे चल रहा है। मैं कह चुका हूं कि मेरी राजनीति का उद्गम स्थल भी धर्म ही है। मेरी राजनीति और धर्मनीति मे कोई अन्तर नही।"[1] विश्व का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि राजनीति सदैव छल, कपट, हिंसा, क्रूरता, अन्याय, शोषण, अत्याचार आदि दुर्गुणों पर आधारित रही है। अच्छा राजनीतिज्ञ उसे माना जाता है, जो उचित-अनुचित साधनो द्वारा अपने देश के हित की रक्षा कर सके। किन्तु गांधी राजनीति को सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का एक साधन बनाना चाहते थे। केवल स्वार्थ पर आधारित राजनीति को वे धर्म के विरुद्ध मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार की राजनीति अन्ततः मानव-जाति के लिए घातक होगी। इसी कारण व्यापक अर्थ मे धर्म को राजनीति के लिए अनिवार्य मानते हुए गांधी ने कहा : "मैं यह नही मानता कि धर्म का राजनीति से कोई वास्ता नही है। धर्म रहित राजनीति शव के समान है, जिसे दफना देना ही उचित है। सच तो यह है कि आप अपने तरीके से चुपचाप राजनीति को काफी प्रभावित करते हैं और मुझे ऐसा लगता है कि यदि राजनीति को धर्म से विच्छिन्न कर देने का प्रयत्न नहीं किया गया होता, जैसाकि आज भी किया जा रहा है, तो जिस हद तक राजनीति का पतन हुआ दिखाई पड़ रहा है, वह उस हद तक न गिरती।"[2]

---

1. हरिजन, 17 नवम्बर 1933, सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1974, खण्ड 56, पृ. 213.
2. हिन्दू 28 फरवरी 1916, वही, 1965, खण्ड 13, पृ. 223.

जहाँ तक लोहिया का सम्बन्ध है, उनके चिन्तन में भी धर्म की अवधारणा को काफी महत्व मिला है। लोहिया ने माना कि दोनो की–धर्म और राजनीति की–जड़ एक ही है। धर्म दीर्घकालीन राजनीति है, राजनीति अल्पकालीन धर्म है।[1] किन्तु गांधी से पूर्णत: भिन्न उन्होने राजनीति तथा धर्म के सम्मिश्रण को कभी भी स्वीकार नही किया। लोहिया ने कहा कि धर्म तथा राजनीति के मिलन से उसका सैद्धान्तिक पक्ष तो नष्ट हो जाता है तथा व्यावहारिक रूप से वह साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लेता है। उन्ही के शब्दो मे : "धर्म और राजनीति के दायरे अलग रखना अच्छा है।······ धर्म और राजनीति के अविवेकी मिलन से दोनों भ्रष्ट होते हैं। किसी एक धर्म को किसी एक राजनीति से कभी नही मिलाना चाहिए। इसी से साम्प्रदायिक कट्टरता जनमती है। धर्म और राजनीति को अलग रखने का सबसे बड़ा मतलब यही है कि साम्प्रदायिक मिलन और कट्टरता से बचें।"[2] लोहिया के अनुसार धर्म का उद्देश्य अच्छायी तथा राजनीति का बुराई का अन्त करना होता है। किन्तु दोनो स्थितियो मे फर्क है। धर्म तथा राजनीति के मिश्रण के फलस्वरूप यह फर्क बढ जाता है तथा एक दूसरे से सम्पर्क टूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि विभिन्न सामाजिक प्रश्नो के प्रति धर्म यथास्थिति का समर्थक बन जाता है तथा राजनीति का स्वरूप झगड़ालू बन जाता है।

तृतीय

लोहिया ने संस्था की कीमत पर कभी भी मनुष्य को अधिक महत्वपूर्ण नही माना। जबकि दूसरी तरफ, गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन मे बहुत सी बार ऐसे हस्तक्षेप किये जो यह प्रमाणित करते हैं कि उन्होने स्वयं संस्था को कोई महत्व नही दिया। उदाहरणार्थ सन् 1939 मे अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी के सम्मुख गाधी द्वारा तैयार किये गये अन्य प्रस्तावों के साथ दक्षिणी अफ्रीका के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव रखा गया। लोहिया ने इस प्रस्ताव मे दो संशोधन पेश किये—प्रथम, दक्षिणी अफ्रीका मे "ब्रिटिश भारतीय" की अपेक्षा भारतीयों को केवल भारतीय ही कहा जाये, चाहे वे दक्षिणी अफ्रीका मे रहें या भारत में। द्वितीय, दक्षिणी अफ्रीका में सभी शोषित वर्गों का एक संयुक्त मोर्चा कायम हो, चाहे वे *भारतीय*, *नीग्रो*, *अरब* तथा अन्य देशो के गरीब लोग हों। इन प्रस्तावो पर कांग्रेस-कार्यकारिणी ने स्वीकृति दे दी। किन्तु, गांधी ने इन पर "वीटो" कर दिया और कांग्रेस

1. चौखम्भा, वर्ष-4, अंक 37, संख्या 156, 3 जुलाई 1961, पृ. 6.
2 वही, पृ. 6

द्वारा दुबारा उसी मूल प्रस्ताव को पास करा लिया गया। चूंकि लोहिया का आग्रह किसी खास व्यक्ति विशेष की अपेक्षा संस्था पर अधिक था, अतः उन्होंने नेहरू की इस राय की सशक्त शब्दों में आलोचना की कि, "गांधी की सम्मति का आदर करना चाहिए।" इसके विपरीत गांधी ने *कांग्रेस कार्यकारिणी को* उनकी व्यक्तिगत राय मान लेने के लिए धन्यवाद दिया। गांधी ने कहा : "यह प्रसन्नता की बात है कि कांग्रेस महासमिति का दक्षिणी अफ्रीका सम्बन्धी प्रस्ताव विकृत होने से बच गया। विद्वान् डॉ. लोहिया का संशोधन उसे बिगाड़ देता। पं. जवाहरलाल नेहरू की सलाह मान लेने के लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं।"[1] यह उदाहरण तथा इस तरह के अन्य उदाहरण और खोजे जा सकते हैं, जो सिद्ध करते हैं कि गांधी ने व्यक्ति पूजा को बढ़ावा दिया।

चतुर्थ

गांधी के आर्थिक सिद्धान्तों में ट्रस्टीशिप की मान्यता को प्रमुख स्थान *मिला है। जैसा कि स्वयं गांधी ने लिखा है कि "मेरा ट्रस्टीशिप या संरक्षणकर्ता* का सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है, जो काम निकालने के लिए आज घड़ लिया गया हो। अपनी मशा को छिपाने के लिए खडा किया गया आवरण तो वह हरगिज नही है। मेरा विश्वास है कि दूसरे सिद्धान्त जब नहीं रहेंगे, तब भी यह रहेगा।"[2] पूंजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है, इसका एक विकल्प यह भी हो सकता है कि सम्पत्ति को सरकारी नियन्त्रण में रखा जाये। किन्तु गांधी के अनुसार यह समस्या का उचित समाधान नही है, क्योंकि राज्य का आधार हिंसा पर आधारित है। अतः विकल्प यही है कि पूंजीपति लोग स्वेच्छा से अपनी पूंजी के न्यासधारी बन जायें, ताकि समाज के निम्न वर्गों की भलाई और कल्याण हो सके। गांधी के अनुसार ट्रस्टीशिप के आधार पर एक तरफ पूंजीवादी शोषण से बच सकते हैं तथा दूसरी तरफ हिंसायुक्त सरकारी नियन्त्रण से। गांधी के शब्दो मे . "जितना धन फालतू है उस सबको स्वेच्छा से समर्पित कर देने के अलावा पूंजीपतियो के पास कोई चारा भी नही है, जिससे उन्हे एक ओर सबकी असली खुशी हासिल हो सके और दूसरी ओर वह उस आसन्न अराजकता को रोक सके जो समय रहते न

---

1. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1978, खण्ड 69, पृ. 409.
2. गांधी, एम. के. : इकोनोमिक एण्ड इण्डस्ट्रियल लाइफ एण्ड रिलेशन्स, अहमदाबाद, नवजीवन, 1959, खंड I, पृ. 157.

जगाने के कारण करोड़ो अज्ञ और भूखे लोगों के उठ खड़े होने पर सारे देश मे छा जायेगी और जिसे देश की शक्तिशाली सरकार की सेनायें भी नही टाल सकेंगी।"[1] दूसरी तरफ लोहिया ने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में कोई विश्वास व्यक्त नहीं किया। प्रथम, लोहिया ने माना कि गांधीजी का यह सिद्धान्त नैतिक उपदेश से ज्यादा नहीं है। व्यवहार में यह कदापि संभव नहीं है कि पूंजीपति स्वेच्छा से अपनी पूंजी का त्याग कर देंगे। "किसी नैतिक उपदेशक की अपील चाहे वह कितनी ही प्रभावी क्यो न हो, इसका सार्थक परिणाम नही निकल सकता............हजारों, लाखों पूंजीपतियो को अपनी सम्पत्ति के ट्रस्टी के रूप में नही बदल सकते।"[2] द्वितीय, लोहिया के अनुसार, ट्रस्टीशिप के द्वारा गांधी की आर्थिक समानता की कल्पना भी सार्थक नहीं हो सकती। इस दृष्टि से गांधीजी की ट्रस्टीशिप का मूल्यांकन करते हुए लोहिया ने लिखा है: "सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार नष्ट करने वाला मार्ग कई बातो की वजह से वास्तविकवादिता है। प्रथम तो आम लोगों को इसके कारण बहुत आशायें रहती हैं। वे एक ऐसे समय की आशा करने लगते हैं जब *मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न हो सकेगा।* इसकी वजह से वे मौजूदा वक्त के शासक समाज से डरते नही। ट्रस्टीशिप के तरीके से जनता के दिल मे न तो ऐसी आशा ही पैदा हो सकती है और न ऐसी निर्भीकता, क्योंकि ट्रस्टी या संरक्षक उसकी निगाह मे एक ऊंचा आदमी और मालिक के समान रहेगा ही। ऊंचे या मालिक की भावना के कारण मनुष्य की शक्तियां पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही रह सकेंगी..........दूसरे, सम्पत्तिशालियों से संघर्ष करने वाला मार्ग मानव समाज और उसकी प्रकृति से ऐक्य रखता है। यह गैर मुमकिन है कि सम्पत्तिशाली मनुष्य ट्रस्टीशिप—केवल संरक्षक बने रहने-के लिए राजी किये जा सकें और फिर उनके विरुद्ध अहिंसात्मक लडाई से तो उनको और भी अनेक कारण मिल जायेंगे।..........तीसरे, सम्पत्ति से निजी स्वामित्व का अंत और उसके सामूहिक स्वामित्व का उद्देश्य हमारे सामने भावी समाज का एक ठीक-ठीक स्वरूप दर्शित करता है। इसके जरिये हम एक ऐसे समाज के विषय में अच्छी तरह विचार कर सकते हैं कि वह समाज कैसे अपने उत्पादन के तरीको को जारी रखेगा। इस स्कीम में एक ऐक्य है, जबकि गांधीजी का ट्रस्टीशिप, जो कि छोटी और बड़ी अनेक तरह की होगी,

---

1. हरिजन, 6 फरवरी, 1931.
2. लोहिया: मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद: नवहिन्द, 1963, पृ. 116.

हमारे सम्मुख एक ऐसे समानताहीन समाज और कार्यों की तस्वीर लाता है, जिसके अनेक स्वरूप होंगे।"[1]

अन्तिम

लोहिया ने गांधी पर आरोप लगाते हुए कहा है कि उन्होंने कृषकों-मजदूरों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण नही अपनाया। इसी कारण गाधी ने इस वर्ग को सत्याग्रह का अधिकार नही दिया।[2] हालांकि इस संदर्भ मे गाधी का कहना था कि किसानो-मजदूरो को अहिंसात्मक सत्याग्रह के संचालन की शिक्षा तथा प्रशिक्षण नही है, अत. हिंसा बढ़ने की संभावना बनी रहती है। किन्तु लोहिया ने कहा कि किसानो-मजदूरो को सत्याग्रह प्रयोग का अधिकार दिये बिना ही इनमे इसके प्रति जागरूकता तथा इसके प्रशिक्षण की बात करना गलत है। लोहिया के अनुसार गांधी को अपने सत्याग्रह के अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों के घेरे मे किसानों-मजदूरो को भी सम्मिलित करना चाहिए। तभी यह संभव होगा कि समाज के सभी वर्गो मे गत्यात्मकता पैदा की जाये। जैसा कि लोहिया ने लिखा है कि : "गांधीजी और समाजवादियों की नीति मे अन्तर है। दोनो ही जनता की लडाई के पक्ष में हैं, लेकिन दोनों सत्याग्रही के बीच मे गाधीजी अनेक रचनात्मक कार्यक्रमो से—जैसे चरखा, गावो के उद्योग-धन्धे, हरिजनोद्धार आदि मे.—जनता कोसगठित और मजबूत करेंगे। इसके विपरीत समाजवादी किसानों और मजदूरो की आंशिक लडाइयों से—जैसे लगान मे कमी और पहले से ज्यादा मजदूरों की मागो को मनवाकर—जनता को अधिक शक्तिशाली बनायेंगे। ये दो तरह के कार्यक्रम अभी तक विरोधी समझे गये हैं और अपना-अपना प्रचार करने के लिए लोगो ने एक की निन्दा की है और दूसरे की प्रशंसा। लेकिन दोनो ही लाभदायक सिद्ध हुए हैं और देश मे अपनी जडें जमा चुके हैं। क्या यह बिल्कुल असंभव है कि हम उन्हें एक दूसरे के पूरक समझें ? बहुत सी गलतियो और सोचने-विचारने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुचा हूं कि वे एक दूसरे के पूरक हैं और इससे संयुक्त मोर्चा ही मजबूत न होगा, बल्कि देश व्यापी आन्दोलन को भी सहायता मिलेगी।"[3]

---

1. संघर्ष, वर्ष 3, संख्या 9, 4 मार्च 1940, पृ. 4.
2. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1978, खंड 70, पृ. 10.
3. संघर्ष, वर्ष 2, अंक 12, 26 अप्रैल 1949, पृ. 5.

विकल्प सुझाने में असमर्थ रहा। "सभी वामपंथी विचारक मानव-व्यक्ति तथा मानव-अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने हेतु प्रेरित थे। किन्तु इस बारे में स्पष्ट नहीं थे कि इस हेतु क्या परिवर्तन किये जायें तथा वे कैसे प्राप्त किये जायें।"[1] दूसरी तरफ लोहिया ने मानवीय निराशा में यह आवश्यक माना है कि विभिन्न प्रकार के संगठनों का निर्माण किया जाये, ताकि व्यक्ति को अलगाव की भावना से निकाल सकें। व्यक्ति को निरन्तर इस दिशा में कार्य करते रहना चाहिए, सफलता-असफलता गौण मुद्दा हैं। कार्य करते रहना ही उनके निराशा के कर्तव्य है और अन्ततः वह इस स्थिति से मुक्त हो जायेगा। लोहिया के शब्दों में : "मैंने यह भी सोचा है कि अगर ज्यादातर लोग इस किस्म के हो गये कि वे मान लें कि हार तो है, गद्दी मिलेगी नहीं और अगर मिल ही गयी तो आदर्शवादिता छूट जायेगी। और अगर इस संकट को वे पहचान लें और सचेत होकर कुछ कार्यवाही शुरू करें तो फिर शायद कभी गद्दी मिल भी जाये। तब सम्भवतः यह हार का दर्शन कभी जीत वाला भी हो जाये।"[2]

निराशा के कर्त्तव्य में जिम्मेदारी की भावना निरन्तर बनी रहती है। अतः इसका स्वभाविक परिणाम होता है अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। जबकि मार्क्स अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में अन्तिम लक्ष्य के बारे में कम चिन्तित था, क्योंकि (क) मार्क्स का उद्देश्य बुर्जुआ व्यवस्था में विच्छिन्न तथा अलगावयुक्त व्यक्ति को मुक्त करना और एक स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था निर्माण करने का प्रयत्न था। किन्तु मार्क्स ने अपनी इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कहीं भी व्यवस्थात्मक आधार को नहीं अपनाया। जैसाकि जीन हिपोलाइट ने लिखा है : "दुर्भाग्य से वह (मार्क्स) यह परिभाषित नहीं कर सका कि "व्यक्ति के सामाजिक सार" में कौन-कौन से तत्व निहित हैं। इस तथ्य की अस्पष्टता ने उसके भावी परिणामों को भी प्रभावित किया।"[3]

(ख) मार्क्स का स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था के निर्माण का लक्ष्य, इस आधार पर भी सिद्ध नहीं होता कि, उसने उन संस्थाओं को जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को रोकती या प्रतिबन्धित या दमन करती हैं, हटा देता है।

---

1. मेहता, वी. आर. : "मार्क्सिज्म इन द माडर्न वर्ल्ड", इण्डियन जनरल ऑव पोलिटिकल साइंस, वॉ. 6, नं. 4, अक्तुबर-दिसम्बर 1975, पृ. 30.
2. लोहिया : निराशा के कर्तव्य, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 17.
3. जीन हिपोलाइट, उद्धृत, ड्यूमों, लुई : रिलीजन/पोलिटिक्स एंड हिस्ट्री इन इंडिया, पेरिस : मॉउटोन, 970, पृ. 137.

मार्क्स के अनुसार ऐसा न केवल धर्म ही बल्कि राज्य भी करता है। हीगल ने नैतिक जीवन को तीन भागों—परिवार, सिविल सोसाइटी तथा राज्य-में विभाजित किया है। कुल मिलाकर मार्क्स ने व्यक्ति के साथ सिविल सोसाइटी को तो बनाये रखा, किन्तु वह राज्य को अस्वीकार कर देता है। जब सिविल सोसाइटी का व्यक्ति राज्य के सम्मुख अपने गर्व का दमन होते देखता है तो उसे महसूस होता है कि राज्य द्वारा निर्मित कानूनों से उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता अवरुद्ध या प्रतिबन्धित हो रही है। अगर इस स्थिति को मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की विशेषता मानें तो यहां व्यक्ति का अतिक्रमण हो जाता है, क्योंकि हीगल के राज्य में केवल "राज्य" ही नहीं अपितु अप्रत्यक्ष रूप से समाज भी समाहित है। दूसरे शब्दों में मार्क्स को, राज्य को, अर्थशास्त्र (सिविल सोसाइटी) की दृष्टि से नहीं वरन् सामाजिक दृष्टि से देखना चाहिए था। हीगल के राज्य की अस्वीकृति उसे सिविल समाज (अर्थव्यवस्था) के स्तर पर ला देती है अर्थात् मार्क्स अर्थशास्त्र के घेरे में ही उलझ कर रह गया। उसने प्रत्येक चीज का विश्लेषण हितों तथा वर्गों के स्तर पर ही किया। *उसके विश्लेषण में हितों से परे कोई समाज नहीं है। अतः मार्क्स का अन्तिम* लक्ष्य-स्वतन्त्र व्यक्ति की संतोषजनक सामाजिक व्यवस्था-अस्पष्टता की स्थिति में ही बना रहा।

मार्क्स की परवर्ती रचनाओं में हम उसके समष्टिवादी व्यवस्था के आग्रह को प्रमुख पाते हैं। व्यक्ति सम्पूर्ण गतिविधियों, विशेषकर सम्पत्ति के अधिकार पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण स्वीकार किया जाता है ताकि व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। मार्क्स के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप से प्रकटीकरण स्टालिनवादी राज्य में हुआ, जिसे कि आसाक डोस्चर ने मार्क्सवादी रूपान्तरण की "वल्गर वराइअटि" की संज्ञा दी है।[1] स्टालिनवादी व्यवस्था की परिकल्पना में व्यक्ति के सभी अधिकारों को राज्य को प्रदान कर दिये जाते हैं, ताकि समाज में कोई व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व न कर सके और समाज में स्वामियों का वर्ग, दूसरे वर्ग का शोषण न कर सके। व्यक्ति की सभी शक्तियों का प्रयोग सामाजिक हित वृद्धि हेतु किया जाता है। स्टालिनवादी राज्य-व्यवस्था में व्यक्ति को आर्थिक आवश्यकताओं का दास तथा समाज को व्यक्ति निर्धारण का पर्यावरण तैयार करने वाली संस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवाद के इस रूप में व्यक्ति

1. डोस्चर, आसाक : मार्क्सिज्म इन आवर टाइम, सेन फ्रान्सिसको : रामपर्ट, 1971, पृ 18.

की अधीनस्थता की स्थिति स्पष्ट है। इस संरचना में एक केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था का जन्म होता है, जिसमें व्यक्ति की पसन्दगी तथा चयन का दायरा पूर्ण रूप से बन्द होता है। साम्यवादियों की राय में आर्थिक-उन्नति केन्द्रीयकरण तथा तानाशाही द्वारा ही सम्भव है। किन्तु लोहिया के अनुसार यह धारणा त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा मौलिक तथा दीर्घकालीन लाभ नहीं प्राप्त हो सकते। लोहिया के शब्दों में, "एकाधिपत्य बहुत बुरी चीज है, हर हालत में वह बुरी चीज है। उससे बुनियादी तौर पर और लम्बे तौर पर कोई फायदा नही निकलता।"[1] लोहिया ने साम्यवादियों के विरुद्ध उनके द्वारा स्वीकृत व्यवस्था के सर्वाधिकारवाद की आलोचना करते हुए कहा कि साम्यवादी व्यवस्था द्वारा जो कुछ भी आर्थिक लाभों की अपेक्षा की जाती है, वह इसके केन्द्रीकृत स्वरूप के कारण गौण हो जाती है। राज्य के लोकतांत्रीकरण तथा राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण बिना साम्यवादी व्यवस्था द्वारा कोई लाभ प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती।[2] इसी तरह के विचार प्रकट करते हुए स्टाजनोविक ने कहा है कि जब तक मार्क्सवाद अपने आप को स्टालिनवादी राज्य मान्यता से दूर नही कर लेता तब तक वह हमारे समय की संवेदनशील चेतना नही बन सकता।[3]

स्टालिन के प्रति, जिसके नेतृत्व मे रूस मे मार्क्सवाद की व्यावहारिक परिणीति हुयी, लोहिया ने कहा कि निहित स्वार्थो की पूर्ति हेतु व्यक्ति को पूर्णतः कुचल दिया गया तथा आन्तरिक रूप से भय की ऐसी व्यवस्था उत्पन्न कर दी गयी, जहा व्यक्ति राज्य-सत्ता के विरुद्ध किसी दशा में अवाज नही उठा सकता। लोहिया के अनुसार : "स्टालिन विश्व इतिहास के महान अपराध्यिों में एक था तथा आज उसके अत्याचार सिद्ध हो चुके हैं। उसने बहुत ही सामान्य तथा साधारण लक्ष्य प्राप्ति हेतु कमजोर व्यक्तियो को उसी प्रकार खत्म कर दिया जैसे पृथ्वी पर अन्य शक्तिशाली व्यक्ति करते हैं।"[4]

लोहिया के अनुसार आर्थिक प्रयोजन सिद्धि हेतु जो एकीकृत संरचना स्वीकार की जाती है, उसमें स्थायी रूप से एक नये वर्ग का जन्म हो जाता

---

1. लोहिया : पाकिस्तान में पलटनी शासन, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 2.
2. लोहिया : विल टू पावर एंड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956, पृ. 56.
3. स्टाजनोविक, एस. : बिटविन आइडियाज एण्ड रियलिटी : ए क्रिटिक ऑव् सोशलिज्म एंड इट्स फ्यूचर, ऑक्सफोर्ड : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973, पृ 5.
4. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 273.

है । लोहिया की साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सबसे गम्भीर आपत्ति यह है कि उसने वर्गों को समाप्त करने के प्रयत्न में फिर से "जाति-व्यवस्था" (स्थायी जड़ वर्ग) को जन्म दे दिया । उन्होंने माना कि प्रारम्भ में "जाति-व्यवस्था" की जरूरत इसलिये पड़ी कि खेतीप्रधान देश को तीव्र गति से पूर्ण औद्योगिक देश बनाना था, जो शायद वर्ग संघर्ष की उपस्थिति मे सम्भव नही था। "वर्ग को अन्यायपूर्वक नही न्यायपूर्वक बांधकर रखने की कोशिश की गयी, जिससे वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाये ।"[1] लोहिया के अनुसार हालांकि "जाति व्यवस्था" का उद्गम अच्छा ही था, क्योंकि हारे व्यक्ति का नाश करने के बजाय उसकी आमदनी को बांधे रखने के प्रयास से ही जाति की उत्पत्ति हुयी थी । किन्तु आगे चलकर "रचनात्मक-जाति", स्वय "रक्षात्मक-जाति" में बदल गयी ।[2] फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता को पूर्णतः नकार दिया तथा अधीनस्थ स्थायी वर्गों (जाति–व्यवस्था) को जन्म दे दिया । लोहिया ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया कि रूसी–प्रयत्न "जाति-व्यवस्था" की स्थापना करना ही रहा ।[3] इस व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि समाज मे वर्गों के आधार पर असमानता की स्थिति पैदा हो गयी तथा व्यक्ति द्वारा यह कदापि सभव नहीं रहा कि वह अपनी इस स्थिति के विरुद्ध कदम उठा सके । लोहिया के शब्दो मे "इससे कोई अन्तर नही पडता कि कौनसा सिद्धान्त अपनाया गया, लेकिन यह वास्तविकता है कि रूस मे अलग-अलग ढंग के श्रमिको की अपनी स्थिति और आमदनी स्थिर कर दी गयी । उनके लिये यह सम्भव नही है कि इन सम्बन्धों व स्थितियो को बदलने के लिये संघर्ष करें ।"[4]

3. लोहिया का विकल्पवादी दृष्टिकोण

लोहिया ने व्यक्तिवादी तथा समुदायवादी (क्लेक्टिविस्ट) दोनों धाराओ को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि दोनो ने व्यक्ति तथा समुदाय (समाज) के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति एकाकी दृष्टिकोण अपनाया । एक तरफ जहां व्यक्ति को प्रतियोगितायुक्त पूर्ण स्वतन्त्र माना गया तथा समाज को सुविधा के संदर्भ में *परिभाषित किया गया । वहां दूसरी तरफ समाज का सर्वग्रासी* रूप देखते हैं, जहां व्यक्ति पूर्णतः इसके अधीन है । इस प्रकार व्यक्ति और

1. लोहिया : जाति प्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ 41.
2. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित), इलाहाबाद : लोकभारती, 1977, पृ. 48.
3. वही, पृ. 46.
4. वही, पृ. 47.

समाज में द्वन्द्व तथा विरोध पैदा कर दिया गया। अतः यहां दोनो चिन्तन-धाराओं से भिन्न, "निजी तथा मौलिक भारतीय" समाजवादी चिन्तन के रूप मे, लोहिया की व्यवस्था को देखने का प्रयास करेंगे, जहां उन्होंने इन दोनों के प्रति सम्यक् तथा सामन्जस्यपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया।

लोहिया का "व्यक्ति" अपने आप मे पूर्ण है। इसी कारण उसने व्यक्ति को साधन तथा साध्य दोनों रूपों मे स्वीकार किया। साधन के रूप मे व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि सामाजिक घेरे में—चाहे वह परिवार हो, जाति, प्रान्त, राज्य हो— ऐसी सीमायें या कमियां पैदा हो गयी हैं, जो व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास में सहायक सिद्ध नहीं हो सकतीं, तो वह उनमे संशोधन करे। अर्थात् वह व्यक्तित्व वृद्धि हेतु सामाजिक वातावरण की स्थिति में परिवर्तन कर सकता है तथा एक नयी सामाजिक व्यवस्था का सृजन कर सकता है, जहां मानव के सभी आयामों का विकास हो सके। किन्तु साथ ही वह साध्य भी बन जाता है, जबकि नयी व्यवस्था के सृजन का उद्देश्य व्यक्ति के विभिन्न पक्षों की वृद्धि हेतु माना जाता है। व्यक्ति को साधन तथा साध्य अर्थात् व्यक्ति की पूर्णता का जिक्र करते हुए समाजवादी पार्टी के हरदोई विशेष अधिवेशन (जून 1952) मे लोहिया ने कहा : "क्षण का दोहरा स्वरूप मन में पैदा होते ही व्यक्ति और समाज के पारस्परिक विरोध का समाधान हो जाता है ...... मानव वातावरण की उपज है और इसमें परिवर्तन करने का साधन भी। वर्तमान के आविष्कार के रूप मे वह मानव-गरिमा को अमल में लाने वाला और वातावरण का कारीगर है। व्यक्ति, साध्य और साधन दोनो है।"[1]

लोहिया के अनुसार व्यक्ति अपने-आप में पूर्ण है, किन्तु उससे आगे परिवार, गांव, क्षेत्र, राज्य और विश्व समुदाय-समाज–है। इस तरह सम्बन्धों की शृंखला चलती जाती है। इस शृंखला की प्रत्येक कड़ी पूर्ण है, किन्तु वह अपने तक ही सीमित नही, वरन् उसका सम्बन्ध अन्तिम कड़ी तक रहता है। अतः हमें एक पूर्णता, चाहे वह व्यक्ति हो या परिवार, तक ही सीमित नही रहना चाहिये। उससे आगे बढ़कर समाज के वृहद् घेरे की तरफ देखना चाहिये।[2] समाज के इस वृहद् घेरे मे व्यक्ति सबसे नीचे तो है, किन्तु उसके

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 375.
2. लोहिया : मर्यादित, उन्मुक्त और सीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, हैदराबाद : नवहिन्द, 1962, पृ. 10.

अधीन नहीं। लोहिया के अनुसार वह व्यवस्था सबसे अच्छी व्यवस्था होगी जहां व्यक्ति अपने हित तथा रागद्वेष से ऊपर उठकर वृहद् समुदाय—चाहे वह परिवार हो, क्षेत्र या राष्ट्र—के हित मे अपने "स्व" का त्याग कर दे, जहां "सब लोगो का हित सम्मिलित हो।" संकुचित करने वाला अपनापन है, उससे हटकर जिसको हम पराया कहते हैं, उसको भी अपना लेने की इच्छा है।"[1] अत: व्यक्ति का समाज के साथ सम्बन्ध को वृहद् पूर्णता की तरफ बढ़ते हुए कदम के रूप में देखना चाहिये।

भारतीय चिन्तन में व्यक्ति और समाज की स्वायत्तता तथा अन्योन्याश्रितता के सम्बन्ध को स्वीकार करने की एक लम्बी परम्परा रही है। प्राचीन चिन्तन—विशेषकर वृहदारण्यक उपनिषद्—मे हम इस सह-सम्बन्ध का प्रकटीकरण वर्णाश्रम व्यवस्था की मान्यता में पाते हैं। इस परिकल्पना के पीछे मुख्य तर्क यह है कि एक सुसगठित समाज चार अंगों (वर्णों) मे बंटा होता है। ये अंग अपने अपने 'धर्म" के आधार पर स्वायत्त रूप से कार्य करते हैं। समाज के सुसंचालन के लिए चारों अंगों के कार्य समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक भारतीय चिन्तन मे इसी परम्परा की सातत्यता हम विवेकानन्द, गांधी, अरविन्द, टैगोर, सम्पूर्णानन्द, टंडन तथा भगवानदास में पाते हैं। इस संदर्भ में हम गांधी को उद्घृत करना चाहेंगे, जैसा कि उन्होने लिखा है : "जब हम स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे अपने को जब हम शुद्ध कर लेंगे, तब कही हम चार वर्णों को उनके सर्वोत्कृष्ट रूप में स्थापित कर सकेंगे। किन्तु वर्ण तब किसी मनुष्य को उच्चतर पद या अधिकार नहीं देगा, वह तो उसे और भी बड़े उत्तरदायित्व और कर्तव्यों से नियोजित करेगा। सेवा की भावना लेकर जो लोग समाज को ज्ञान देंगे, वे ब्राह्मण कहलायेंगे। वे यह दावा नही करेंगे कि वे औरों से बड़े हैं। वे तो समाज के सच्चे सेवक होगे। सामाजिक प्रतिष्ठा या अधिकारों की असमानता का जब अन्त हो जायेगा, तब हम सब बराबर हो जायेंगे। मैं नहीं जानता कि सच्चे वर्ण धर्म का हम कब पुनरुद्धार कर सकेंगे। वर्ण-धर्म के वास्तविक पुनरुद्धार का अर्थ होगा सच्चा प्रजातन्त्र।"[2] किन्तु लोहिया ने इस व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि बुद्धि, शक्ति, दौलत तथा श्रम—जो कि वर्णाश्रम समाज के अंगों की अपनी-अपनी कार्यात्मक विशेषतायें हैं—के आधार पर समाज में

1. लोहिया : धर्म पर एक दृष्टि, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ 9.
2. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : सूचना विभाग, भारत सरकार, I / भाग 62, पृ. 306.

वर्ग बन जाते हैं तथा वर्ग जड़ होकर जाति का रूप ले लेते है।[1] जहां स्वायत्तता की स्थिति खत्म हो जाती है और समाज में व्यक्ति, असमान रूप से पदसोपानीय स्थिति मे आ जाता है। दूसरे शब्दों मे जड़वर्गयुक्त पदसोपानीय स्थिति में पारस्परिक अन्योन्याश्रितता तथा समानता खत्म हो जाती है, फलतः अधीनतायुक्त व्यवस्था का जन्म होता है।

लोहिया ने अपनी व्यवस्था को दार्शनिक आधार पर स्पष्ट करने के लिए तीन पौराणिक प्रतीकों—राम, कृष्ण तथा शिव—को लिया है। तीनो के रास्ते अलग-अलग हैं, किन्तु तीनो पूर्ण व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। राम व्यक्ति से ऊपर उठ जाते हैं किन्तु वे नियम तथा कानून से ऊपर नहीं उठ पाये। राम की ताकत नियमों के दायरे में सीमित है, अर्थात् राम के पर-हित का विचार कानून की सीमा मे बंधा रहता है। सीता के व्यवहार के बारे में धोबी शिकायत करता है। हालांकि धोबी एक "व्यक्ति" है। राम व्यक्ति से ऊपर उठ सकते थे। लेकिन नियम यह था कि हर शिकायत के पीछे कोई न कोई दुःख होता है तथा उसका उचित समाधान होना चाहिए। अतः इस मामले मे सीता का निर्वासन ही एकमात्र विकल्प था। राम के सामने एक विकल्प यह भी था कि वे सिंहासन छोड़कर दुबारा सीता के साथ वनवास चले जाते। किन्तु प्रजा ऐसा नहीं चाहती थी। अतः राम ने स्वयं के स्वार्थ से ऊपर उठकर वृहद् समुदाय (प्रजा) के हित में निर्णय लिया। किन्तु नियम भी उतना ही महत्वपूर्ण है। अतः सीता को अकेले वन मे भेजा। राम नियमों से ऊपर नहीं उठ सकते थे। उन्होंने नियमों का पालन किया, उन्हें बदला नही। "प्रजा नियमो मे ढिलाई करती या उसे खत्म कर देती। लेकिन कोई मर्यादित पुरुष नियमों का खत्म किया जाना पसंद नही करेगा जो विशेषकाल मे या किसी संकट से छुटकारा पाने के लिए किया जाता है। विशेषकर उस समय जब व्यक्ति का स्वय उनसे कुछ न कुछ सम्बन्ध हों।"[2] अतः राम एक नियन्त्रित व्यक्तित्व का प्रतीक है, किन्तु वह अपने-आप मे पूर्ण है।

दूसरा प्रतीक कृष्ण है। कृष्ण नियम, परिवार, क्षेत्र आदि से परे है तथा बिना किसी सीमा के कार्य करने के लिए मुक्त है। कृष्ण चोर झूठे, तथा खूनी थे। वे अपने समय की मर्यादाओं के सन्दर्भ मे एक पाप के बाद दूसरा पाप बिना हिचक के करते थे।[3] किन्तु ऐसा नही है कि कृष्ण समाज

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 40.
2. लोहिया : इन्टरवल ड्यूरिंग पोलिटिक्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 35.
3. वही, पृ. 41.

की सभी पूर्णताओं का अतिक्रमण कर गये हो। कृष्ण का प्रयास एक नयी व्यवस्था का सृजन करना था, जहा समाज की अधिकतम हित वृद्धि की सभावना बढ़ जाये और न ही कृष्ण मे व्यक्ति का अतिक्रमण होता है. क्योंकि उनके "समत्वम्" के विचार में समाज की महत्ता के साथ-साथ व्यक्ति की महत्ता भी बनी रहती है। कर्म तथा समत्व व्यक्ति के लिए भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने समाज के लिए। अर्थात् कृष्ण मे व्यक्ति तथा समाज दोनों की पूर्णता बनी रहती है।

यहा यह प्रश्न उठता है कि जब व्यक्ति और समाज दोनो पूर्णता के प्रतीक हैं, तब अगर दोनो मे टकराव तथा दोनो के हितो मे विरोध पैदा होता है तो क्या स्थिति होगी ? यहां पर लोहिया के धर्म के विचार को सामने लाना होगा। यहा पर धर्म का अर्थ साम्प्रदायिक या मतवादी अर्थ मे नही बल्कि बहुत ही व्यापक अर्थ मे लिया गया है। धर्म का तात्पर्य ऐसी व्यवस्था के निर्माण का प्रयास है जहां व्यक्ति अपने हितों तथा स्वार्थों से परे और ऊपर उठकर वृहद् समुदाय के घेरे में निर्णय ले। व्यक्ति अपने राग-द्वेष से ऊपर उठकर, "उपकार" को ध्यान मे रखते हुए, समाज के संदर्भ मे निर्णय ले। *किन्तु व्यक्ति का वृहद् समुदाय के सामने झुकने का यह अर्थ नही है कि वह* उसके सामने आत्म-समर्पण कर दे अर्थात् अपने व्यक्तित्व के निजी अस्तित्व को ही खत्म कर दे। इसका तात्पर्य यही है कि ऐसी व्यवस्था का सृजन किया जाये जहां व्यक्ति की पूर्णता के साथ समाज की अधिकतम हित वृद्धि हो सके।[1] लोहिया ने अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए कई उदाहरणों को चुना है। राम जो कि नियमों से बधे हुए हैं, जब नियम तथा समाज के हित मे टकराव होता है तो उन्होने नियम की अपेक्षा समाज हित को प्रमुखता दी। राम ने बालि की मृत्यु नियम विरुद्ध की, परन्तु उसका लक्ष्य अपने साम्राज्य की वृद्धि करना नही, बल्कि ग्राम हत्याओ को रोकने हेतु यह कदम उठाया। देशद्रोही *विभीषण को शरण देना नियम विरुद्ध था,* किन्तु यह समाज की अच्छाई हेतु किया। इसी दृष्टि से लोहिया ने एक अन्य उदाहरण गांधी से लिया है। वृहद् समुदाय (भारत की मानव जाति) के हित-वृद्धि हेतु गांधी ने अपने साधन-साध्य के सिद्धान्त को भी छोड़ दिया। गांधी ने बिहार के भूकम्प को अछूत-प्रथा का कारण बताकर एक बडा उद्देश्य हल करना चाहा। गांधी का मकसद था—जातिप्रथा मिटाना, अछूत-प्रथा मिटाना। अर्थात् गांधी

1. लोहिया : धर्म पर एक दृष्टि, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 11-12.

विकल्प सुझाने मे असमर्थ रहा। "सभी वामपंथी विचारक मानव-व्यक्ति तथा मानव-अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने हेतु प्रेरित थे। किन्तु इस बारे में स्पष्ट नहीं थे कि इस हेतु क्या परिवर्तन किये जायें तथा वे कैसे प्राप्त किये जायें।"[1] दूसरी तरफ लोहिया ने मानवीय निराशा मे यह आवश्यक माना है कि विभिन्न प्रकार के संगठनो का निर्माण किया जाये, ताकि व्यक्ति को अलगाव की भावना से निकाल सकें। व्यक्ति को निरन्तर इस दिशा में कार्य करते रहना चाहिए, सफलता-असफलता गौण मुद्दा हैं। कार्य करते रहना ही उसके निराशा के कर्तव्य है और अन्ततः वह इस स्थिति से मुक्त हो जायेगा। लोहिया के शब्दों में : "मैंने यह भी सोचा है कि अगर ज्यादातर लोग इस किस्म के हो गये कि वे मान लें कि हार तो है, गद्दी मिलेगी नहीं और अगर मिल ही गयी तो आदर्शवादिता छूट जायेगी। और अगर इस संकट को वे पहचान लें और सचेत होकर कुछ कार्यवाही शुरू करें तो फिर शायद कभी गद्दी मिल भी जाये। तब सम्भवतः यह हार का दर्शन कभी जीत वाला भी हो जाये।"[2]

निराशा के कर्त्तव्य में जिम्मेदारी की भावना निरन्तर बनी रहती है। अतः इसका स्वभाविक परिणाम होता है अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होना। जबकि मार्क्स अपनी प्रारम्भिक रचनाओं मे अन्तिम लक्ष्य के बारे मे कम चिन्तित था, क्योंकि (क) मार्क्स का उद्देश्य बुर्जुआ व्यवस्था मे विच्छिन्न तथा अलगावयुक्त व्यक्ति को मुक्त करना और एक स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था निर्माण करने का प्रयत्न था। किन्तु मार्क्स ने अपनी इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कही भी व्यवस्थात्मक आधार को नही अपनाया। जैसाकि जीन हिपोलाइट ने लिखा है : "दुर्भाग्य से वह (मार्क्स) यह परिभाषित नहीं कर सका कि "व्यक्ति के सामाजिक सार" में कौन-कौन से तत्व निहित है। इस तथ्य की अस्पष्टता ने उसके भावी परिणामो को भी प्रभावित किया।"[3]

(ख) मार्क्स का स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था के निर्माण का लक्ष्य, इस आधार पर भी सिद्ध नही होता कि, उसने उन संस्थाओं को जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को रोकती या प्रतिबन्धित या दमन करती हैं, हटा देता है।

---

1. मेहता, वी. आर. : "मार्क्सिज्म इन द मार्डन वर्ल्ड", इंडियन जनरल ऑव पोलिटिकल साइंस, वॉ. 6, नं. 4, अक्तुबर-दिसम्बर 1975, पृ. 30.
2. लोहिया : निराशा के कर्तव्य, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 17.
3. जीन हिपोलाइट, उद्धृत, ह्यूमों, लुई : रिलीजन/पोलिटिक्स एंड हिस्ट्री इन इंडिया, पेरिस : मॉउटोन, 970, पृ. 137.

मार्क्स के अनुसार ऐसा न केवल धर्म ही वल्कि राज्य भी करता है। हीगल ने नैतिक जीवन को तीन भागों—परिवार, सिविल सोसाइटी तथा राज्य—में विभाजित किया है। कुल मिलाकर मार्क्स ने व्यक्ति के साथ सिविल सोसाइटी को तो बनाये रखा, किन्तु वह राज्य को अस्वीकार कर देता है। जब सिविल सोसाइटी का व्यक्ति राज्य के सम्मुख अपने गर्व का दमन होते देखता है तो उसे महसूस होता है कि राज्य द्वारा निर्मित कानूनों से उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता अवरुद्ध या प्रतिबन्धित हो रही है। अगर इस स्थिति को मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की विशेषता मानें तो यहां व्यक्ति का अतिक्रमण हो जाता है, क्योंकि हीगल के राज्य में केवल "राज्य" ही नहीं अपितु अप्रत्यक्ष रूप से समाज भी समाहित है। दूसरे शब्दों में मार्क्स को, राज्य को, अर्थशास्त्र (सिविल सोसाइटी) की दृष्टि से नहीं वरन् सामाजिक दृष्टि से देखना चाहिए था। हीगल के राज्य की अस्वीकृति उसे सिविल समाज (अर्थव्यवस्था) के स्तर पर ला देती है अर्थात् मार्क्स अर्थशास्त्र के घेरे में ही उलझ कर रह गया। उसने प्रत्येक चीज का विश्लेषण हितों तथा वर्गों के स्तर पर ही किया। उसके विश्लेषण मे हितों से परे कोई समाज नहीं है। अतः मार्क्स का अन्तिम लक्ष्य—स्वतन्त्र व्यक्ति की संतोषजनक सामाजिक व्यवस्था—अस्पष्टता की स्थिति में ही बना रहा।

मार्क्स की परवर्ती रचनाओं में हम उसके समष्टिवादी व्यवस्था के आग्रह को प्रमुख पाते हैं। व्यक्ति सम्पूर्ण गतिविधियों, विशेषकर सम्पत्ति के अधिकार पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण स्वीकार किया जाता है, ताकि व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। मार्क्स के इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप से प्रकटीकरण स्टालिनवादी राज्य मे हुआ, जिसे कि आसाक डोस्चर ने मार्क्सवादी रूपान्तरण की "वल्गर, वराइअटि" की संज्ञा दी है।[1] स्टालिनवादी व्यवस्था की परिकल्पना मे व्यक्ति के सभी अधिकारों को राज्य को प्रदान कर दिये जाते हैं, ताकि समाज में कोई व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व न कर सके और समाज मे स्वामियों का वर्ग, दूसरे वर्ग का शोषण न कर सके। व्यक्ति की सभी शक्तियों का प्रयोग सामाजिक हित वृद्धि हेतु किया जाता है। स्टालिनवादी राज्य-व्यवस्था मे व्यक्ति को आर्थिक आवश्यकताओं का दास तथा समाज को व्यक्ति निर्धारण का पर्यावरण तैयार करने वाली संस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है। मार्क्सवाद के इस रूप में व्यक्ति

1. डोश्चर, आसाक : मार्क्सिज्म इन अावर टाइम, सेन फान्सिसको : रामपर्ट, 1971, पृ 18,

की अधीनस्थता की स्थिति स्पष्ट है। इस संरचना में एक केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था का जन्म होता है, जिसमें व्यक्ति की पसन्दगी तथा चयन का दायरा पूर्ण रूप से बन्द होता है। साम्यवादियों की राय में आर्थिक-उन्नति केन्द्रीयकरण तथा तानाशाही द्वारा ही सम्भव है। किन्तु लोहिया के अनुसार यह धारणा त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा मौलिक तथा दीर्घकालीन लाभ नही प्राप्त हो सकते। लोहिया के शब्दो में, "एकाधिपत्य बहुत बुरी चीज है, हर हालत में वह बुरी चीज है। उससे बुनियादी तौर पर और लम्बे तौर पर कोई फायदा नही निकलता।"[1] लोहिया ने साम्यवादियों के विरुद्ध उनके द्वारा स्वीकृत व्यवस्था के सर्वाधिकारवाद की आलोचना करते हुए कहा कि साम्यवादी व्यवस्था द्वारा जो कुछ भी आर्थिक लाभों की अपेक्षा की जाती है, वह इसके केन्द्रीकृत स्वरूप के कारण गौण हो जाती है। राज्य के लोकतांत्रीकरण तथा राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण बिना साम्यवादी व्यवस्था द्वारा कोई लाभ प्राप्ति की सम्भावना नही रहती।[2] इसी तरह के विचार प्रकट करते हुए स्टाजनोविक ने कहा है कि जब तक मार्क्सवाद अपने आप को स्टालिनवादी राज्य मान्यता से दूर नहीं कर लेता तब तक वह हमारे समय की संवेदनशील चेतना नही बन सकता।[3]

स्टालिन के प्रति, जिसके नेतृत्व मे रूस मे मार्क्सवाद की व्यावहारिक परिणीति हुयी, लोहिया ने कहा कि निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु व्यक्ति को पूर्णतः कुचल दिया गया तथा आन्तरिक रूप से भय की ऐसी व्यवस्था उत्पन्न कर दी गयी, जहा व्यक्ति राज्य-सत्ता के विरुद्ध किसी दशा में आवाज नही उठा सकता। लोहिया के अनुसार "स्टालिन विश्व इतिहास के महान अपराधियो मे एक था तथा आज उसके अत्याचार सिद्ध हो चुके हैं। उसने बहुत ही सामान्य तथा साधारण लक्ष्य प्राप्ति हेतु कमजोर व्यक्तियो को उसी प्रकार खत्म कर दिया जैसे पृथ्वी पर अन्य शक्तिशाली व्यक्ति करते हैं।"[4]

लोहिया के अनुसार आर्थिक प्रयोजन सिद्धि हेतु जो एकीकृत संरचना स्वीकार की जाती है, उसमें स्थायी रूप से एक नये वर्ग का जन्म हो जाता

---

1. लोहिया : पाकिस्तान में पलटनी शासन, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 2.
2. लोहिया : विल टू पावर एंड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956, पृ. 56.
3. स्टाजनोविक, एस. : बिटविन द इडियल एण्ड रियलिटी : ए क्रिटिक ऑव् सोशलिज्म एंड इट्स फ्यूचर, ऑक्सफोर्ड : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973, पृ 5
4. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 273.

है । लोहिया की साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सबसे गम्भीर आपत्ति यह है कि उसने वर्गों को समाप्त करने के प्रयत्न में फिर से "जाति-व्यवस्था" (स्थायी जड़ वर्ग) को जन्म दे दिया । उन्होंने माना कि प्रारम्भ में "जाति-व्यवस्था" की जरूरत इसलिये पड़ी कि खेतीप्रधान देश को तीव्र गति से पूर्ण औद्योगिक देश बनाना था, जो शायद वर्ग संघर्ष की उपस्थिति में सम्भव नहीं था। "वर्ग को अन्यायपूर्वक नहीं न्यायपूर्वक बांधकर रखने की कोशिश की गयी, जिससे वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाये ।"[1] लोहिया के अनुसार हालांकि "जाति व्यवस्था" का उद्गम अच्छा ही था, क्योंकि हारे व्यक्ति का नाश करने के बजाय उसकी आमदनी को बांधे रखने के प्रयास से ही जाति की उत्पत्ति हुयी थी । किन्तु आगे चलकर "रचनात्मक-जाति", स्वयं "रक्षात्मक-जाति" में बदल गयी ।[2] फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता को पूर्णतः नकार दिया तथा अधीनस्थ स्थायी वर्गों (जाति–व्यवस्था) को जन्म दे दिया । लोहिया ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि रूसी–प्रयत्न "जाति-व्यवस्था" की स्थापना करना ही रहा ।[3] इस व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि समाज में वर्गों के आधार पर असमानता की स्थिति पैदा हो गयी तथा व्यक्ति द्वारा यह कदापि सभव नहीं रहा कि वह अपनी इस स्थिति के विरुद्ध कदम उठा सके । लोहिया के शब्दों में "इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कौनसा सिद्धान्त अपनाया गया, लेकिन यह वास्तविकता है कि रूस में अलग-अलग ढंग के श्रमिकों की अपनी स्थिति और आमदनी स्थिर कर दी गयी । उनके लिये यह सम्भव नहीं है कि इन सम्बन्धों व स्थितियों को बदलने के लिये संघर्ष करें ।"[4]

3. लोहिया का विकल्पवादी दृष्टिकोण

लोहिया ने व्यक्तिवादी तथा समुदायवादी (कलेक्टिविस्ट) दोनों धाराओं को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि दोनों ने व्यक्ति तथा समुदाय (समाज) के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति एकाकी दृष्टिकोण अपनाया । एक तरफ जहाँ व्यक्ति को प्रतियोगितायुक्त पूर्ण स्वतन्त्र माना गया तथा समाज को सुविधा के संदर्भ में परिभाषित किया गया । वहां दूसरी तरफ समाज का सर्वग्रासी रूप देखते हैं, जहां व्यक्ति पूर्णतः इसके अधीन है । इस प्रकार व्यक्ति और

1. लोहिया : जाति प्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ 41.
2. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित), इलाहाबाद : लोकभारती, 1977, पृ. 48.
3. वही, पृ. 46.
4. वही, पृ. 47.

समाज में द्वन्द्व तथा विरोध पैदा कर दिया गया। अतः यहां दोनो चिन्तन-धाराओं से भिन्न, "निजी तथा मौलिक भारतीय" समाजवादी चिन्तन के रूप में, लोहिया की व्यवस्था को देखने का प्रयास करेंगे, जहां उन्होंने इन दोनों के प्रति सम्यक् तथा सामन्जस्यपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया।

लोहिया का "व्यक्ति" अपने आप में पूर्ण है। इसी कारण उसने व्यक्ति को साधन तथा साध्य दोनों रूपों मे स्वीकार किया। साधन के रूप मे व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि सामाजिक घेरे मे—चाहे वह परिवार हो, जाति, प्रान्त, राज्य हो— ऐसी सीमायें या कमियां पैदा हो गयी हैं, जो व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास में सहायक सिद्ध नहीं हो सकतीं, तो वह उनमे संशोधन करे। अर्थात् वह व्यक्तित्व वृद्धि हेतु सामाजिक वातावरण की स्थिति में परिवर्तन कर सकता है तथा एक नयी सामाजिक व्यवस्था का सृजन कर सकता है, जहा मानव के सभी आयामों का विकास हो सके। किन्तु साथ ही वह साध्य भी बन जाता है, जबकि नयी व्यवस्था के सृजन का उद्देश्य व्यक्ति के विभिन्न पक्षों की वृद्धि हेतु माना जाता है। व्यक्ति को साधन तथा साध्य अर्थात् व्यक्ति की पूर्णता का जिक्र करते हुए समाजवादी पार्टी के हरदोई विशेष अधिवेशन (जून 1952) मे लोहिया ने कहा : "क्षण का दोहरा स्वरूप मन में पैदा होते ही व्यक्ति और समाज के पारस्परिक विरोध का समाधान हो जाता है ······ मानव वातावरण की उपज है और इसमे परिवर्तन करने का साधन भी। वर्तमान के आविष्कार के रूप में वह मानव-गरिमा को अमल में लाने वाला और वातावरण का कारीगर है। व्यक्ति, साध्य और साधन दोनों है।"[1]

लोहिया के अनुसार व्यक्ति अपने-आप में पूर्ण है, किन्तु उससे आगे परिवार, गांव, क्षेत्र, राज्य और विश्व समुदाय-समाज—है। इस तरह सम्बन्धों की शृंखला चलती जाती है। इस शृंखला की प्रत्येक कड़ी पूर्ण है, किन्तु वह अपने तक ही सीमित नहीं, वरन् उसका सम्बन्ध अन्तिम कड़ी तक रहता है। अत हमें एक पूर्णता, चाहे वह व्यक्ति हो या परिवार, तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। उससे आगे बढ़कर समाज के वृहद् घेरे की तरफ देखना चाहिये।[2] समाज के इस वृहद् घेरे मे व्यक्ति सबसे नीचे तो है, किन्तु उसके

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 375.
2. लोहिया : मर्यादित, उन्मुक्त और सीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, हैदराबाद : नवहिन्द, 1962, पृ. 10.

अधीन नहीं। लोहिया के अनुसार वह व्यवस्था सबसे अच्छी व्यवस्था होगी जहां व्यक्ति अपने हित तथा रागद्वेष से ऊपर उठकर वृहद समुदाय—चाहे वह परिवार हो, क्षेत्र या राष्ट्र—के हित में अपने "स्व" का त्याग कर दे, जहां "सब लोगों का हित सम्मिलित हो।" संकुचित करने वाला अपनापन है, उससे हटकर जिसको हम पराया कहते हैं, उसको भी अपना लेने की इच्छा है।"[1] अतः व्यक्ति का समाज के साथ सम्बन्ध को वृहद पूर्णता की तरफ बढ़ते हुए कदम के रूप में देखना चाहिये।

भारतीय चिन्तन में व्यक्ति और समाज की स्वायत्तता तथा अन्योन्याश्रितता के सम्बन्ध को स्वीकार करने की एक लम्बी परम्परा रही है। प्राचीन चिन्तन—विशेषकर वृहदारण्यक उपनिषद्—में हम इस सह-सम्बन्ध का प्रकटीकरण वर्णाश्रम व्यवस्था की मान्यता में पाते हैं। इस परिकल्पना के पीछे मुख्य तर्क यह है कि एक सुसगठित समाज चार अंगों (वर्णों) में बंटा होता है। ये अंग अपने अपने 'धर्म' के आधार पर स्वायत्त रूप से कार्य करते हैं। समाज के सुसंचालन के लिए चारों अंगों के कार्य समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक भारतीय चिन्तन मे इसी परम्परा की सातत्यता हम विवेकानन्द, गांधी, अरविन्द, टैगोर, सम्पूर्णानन्द, टंडन तथा भगवानदास में पाते हैं। इस संदर्भ में हम गांधी को उद्धृत करना चाहेंगे, जैसा कि उन्होंने लिखा है: "जब हम स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे अपने को जब हम शुद्ध कर लेंगे, तब कहीं हम चार वर्णों को उनके सर्वोत्कृष्ट रूप में स्थापित कर सकेंगे। किन्तु वर्ण तब किसी मनुष्य को उच्चतर पद या अधिकार नहीं देगा, वह तो उसे और भी बड़े उत्तरदायित्व और कर्तव्यों से नियोजित करेगा। सेवा की भावना लेकर जो लोग समाज को ज्ञान देंगे, वे ब्राह्मण कहलायेंगे। वे यह दावा नहीं करेंगे कि वे औरों से बड़े हैं। वे तो समाज के सच्चे सेवक होंगे। सामाजिक प्रतिष्ठा या अधिकारों की असमानता का जब अन्त हो जायेगा, तब हम सब बराबर हो जायेंगे। मैं नहीं जानता कि सच्चे वर्ण धर्म का हम कब पुनरुद्धार कर सकेंगे। वर्ण-धर्म के वास्तविक पुनरुद्धार का अर्थ होगा सच्चा प्रजातन्त्र।"[2] किन्तु लोहिया ने इस व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि बुद्धि, शक्ति, दौलत तथा श्रम—जो कि वर्णाश्रम समाज के अंगों की अपनी-अपनी कार्यात्मक विशेषतायें हैं—के आधार पर समाज में

---

1. लोहिया : धर्म पर एक दृष्टि, हैदराबाद : नवहिन्द, *1966*, पृ *9*
2. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : सूचना विभाग, भारत सरकार, 1975, भाग 62, पृ. *306*.

वर्ग बन जाते हैं तथा वर्ग जड़ होकर जाति का रूप ले लेते हैं।[1] जहा स्वायत्तता की स्थिति खत्म हो जाती है और समाज मे व्यक्ति, असमान रूप से पदसोपानीय स्थिति में आ जाता है। दूसरे शब्दों मे जड़वर्गयुक्त पदसोपानीय स्थिति में पारस्परिक अन्योन्याश्रितता तथा समानता खत्म हो जाती है, फलत: अधीनतायुक्त व्यवस्था का जन्म होता है।

लोहिया ने अपनी व्यवस्था को दार्शनिक आधार पर स्पष्ट करने के लिए तीन पौराणिक प्रतीकों—राम, कृष्ण तथा शिव—को लिया है। तीनो के रास्ते अलग-अलग हैं, किन्तु तीनों पूर्ण व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। राम व्यक्ति से ऊपर उठ जाते हैं किन्तु वे नियम तथा कानून से ऊपर नहीं उठ पाये। राम की ताकत नियमों के दायरे मे सीमित है, अर्थात् राम के पर-हित का विचार कानून की सीमा मे बधा रहता है। सीता के व्यवहार के बारे में धोबी शिकायत करता है। हालांकि धोबी एक "व्यक्ति" है। राम व्यक्ति से ऊपर उठ सकते थे। लेकिन नियम यह था कि हर शिकायत के पीछे कोई न कोई दुःख होता है तथा उसका उचित समाधान होना चाहिए। अतः इस मामले में सीता का निर्वासन ही एकमात्र विकल्प था। राम के सामने एक विकल्प यह भी था कि वे सिंहासन छोड़कर दुबारा सीता के साथ वनवास चले जाते। किन्तु प्रजा ऐसा नही चाहती थी। अत: राम ने स्वयं के स्वार्थ से ऊपर उठकर वृहद् समुदाय (प्रजा) के हित में निर्णय लिया। किन्तु नियम भी उतना ही महत्वपूर्ण है। अतः सीता को अकेले वन में भेजा। राम नियमो से ऊपर नहीं उठ सकते थे। उन्होने नियमों का पालन किया, उन्हे बदला नहीं। "प्रजा नियमो में ढिलाई करती या उसे खत्म कर देती। लेकिन कोई मर्यादित पुरुष नियमों का खत्म किया जाना पसंद नही करेगा जो विशेषकाल में या किसी संकट से छुटकारा पाने के लिए किया जाता है। विशेषकर उस समय जब व्यक्ति का स्वय उनसे कुछ न कुछ सम्बन्ध हों।"[2] अतः राम एक नियन्त्रित व्यक्तित्व का प्रतीक है, किन्तु वह अपने-आप मे पूर्ण है।

दूसरा प्रतीक कृष्ण है। कृष्ण नियम, परिवार, क्षेत्र आदि से परे है तथा बिना किसी सीमा के कार्य करने के लिए मुक्त है। कृष्ण चोर झूठे, तथा खूनी थे। वे अपने समय की मर्यादाओं के सन्दर्भ में एक पाप के बाद दूसरा पाप बिना हिचक के करते थे।[3] किन्तु ऐसा नही है कि कृष्ण समाज

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 40.
2. लोहिया : इन्टरवल ड्यूरिंग पोलिटिक्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 35.
3. वही, पृ. 41.

की सभी पूर्णताओं का अतिक्रमण कर गये हों। कृष्ण का प्रयास एक नयी व्यवस्था का सृजन करना था, जहां समाज की अधिकतम हित वृद्धि की संभावना बढ़ जाये और न ही कृष्ण में व्यक्ति का अतिक्रमण होता है, क्योंकि उनके "समत्वम्" के विचार मे समाज की महत्ता के साथ-साथ व्यक्ति की महत्ता भी बनी रहती है। कर्म तथा समत्व व्यक्ति के लिए भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने समाज के लिए। अर्थात् कृष्ण में व्यक्ति तथा समाज दोनो की पूर्णता बनी रहती है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि जब व्यक्ति और समाज दोनो पूर्णता के प्रतीक हैं, तब अगर दोनों में टकराव तथा दोनो के हितों में विरोध पैदा होता है तो क्या स्थिति होगी ? यहां पर लोहिया के धर्म के विचार को सामने लाना होगा। यहां पर धर्म का अर्थ साम्प्रदायिक या मतवादी अर्थ मे नहीं बल्कि बहुत ही व्यापक अर्थ मे लिया गया है। धर्म का तात्पर्य ऐसी व्यवस्था के निर्माण का प्रयास है जहां व्यक्ति अपने हितों तथा स्वार्थों से परे और ऊपर उठकर वृहद् समुदाय के घेरे मे निर्णय ले। व्यक्ति अपने राग-द्वेष से ऊपर उठकर, "उपकार" को ध्यान में रखते हुए, समाज के संदर्भ में निर्णय ले। किन्तु व्यक्ति का वृहद् समुदाय के सामने झुकने का यह अर्थ नहीं है कि वह उसके सामने आत्म-समर्पण कर दे अर्थात् अपने व्यक्तित्व के निजी अस्तित्व को ही खत्म कर दे। इसका तात्पर्य यही है कि ऐसी व्यवस्था का सृजन किया जाये जहां व्यक्ति की पूर्णता के साथ समाज की अधिकतम हित वृद्धि हो सके।[1] लोहिया ने अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए कई उदाहरणों को चुना है। राम जो कि नियमों से बंधे हुए हैं, जब नियम तथा समाज के हित में टकराव होता है तो उन्होंने नियम की अपेक्षा समाज हित को प्रमुखता दी। राम ने बालि की मृत्यु नियम विरुद्ध की, परन्तु उसका लक्ष्य अपने साम्राज्य की वृद्धि करना नहीं, बल्कि ग्राम हत्याओं को रोकने हेतु यह कदम उठाया। देशद्रोही विभीषण को शरण देना नियम विरुद्ध था, किन्तु यह समाज की अच्छाई हेतु किया। इसी दृष्टि से लोहिया ने एक अन्य उदाहरण गांधी से लिया है। वृहद् समुदाय (भारत की मानव जाति) के हित-वृद्धि हेतु गांधी ने अपने साधन-साध्य के सिद्धान्त को भी छोड़ दिया। गांधी ने बिहार के भूकम्प को अछूत-प्रथा का कारण बताकर एक बड़ा उद्देश्य हल करना चाहा। गांधी का मकसद था—जातिप्रथा मिटाना, अछूत-प्रथा मिटाना। अर्थात् गांधी

1. लोहिया : धर्म पर एक दृष्टि, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 11-12.

ने मानव-मुक्ति हेतु प्रयत्न किया। इस संदर्भ में लोहिया ने रवीन्द्रनाथ टैगोर की इसलिए आलोचना की कि उन्होंने इस प्रश्न पर (साधन-साध्य) गांधी से बहस छेड़ दी। लोहिया ने कहा, यहां यह प्रश्न नहीं है कि साधन तथा साध्य में कितना क्या सम्बन्ध है या साध्य हेतु साधन को अस्वीकार कर दिया गया। किन्तु मूलतः सवाल यह है कि इसमें हित-वृद्धि किसकी होती है। हित-वृद्धि का विषय व्यक्ति है या समाज। अगर यहां पर गांधी का विषय समाज है तो वे चाहे कुछ भी साधन अपनायें मान्य होंगे।[1]

अतः लोहिया का ऐसी व्यवस्था सृजन करने का प्रयास है, जहां व्यक्ति और समाज की टकराहट की संभावना बहुत कम रहे तथा जिसमे दोनों की पूर्णता बनी रहे। लोहिया के अनुसार शिव ऐसे ही प्रतीक हैं, जिसमें वृहद्-समुदाय (ब्रह्माण्ड) तथा व्यक्ति का उचित समन्वय है। वे दोनों अर्थों मे पूर्ण हैं। शिव योगी भी हैं तो मनुष्य भी है। योगी के रूप मे मृत पार्वती को कधे पर उठाये घूमना, हाथी तथा मनुष्य का मिश्रण कर गणेश को पुनः जीवित करना आदि क्रियाएं करते हैं, तो व्यक्ति के रूप मे—बिना देवासुर सग्राम में हिस्सा लिये, समुद्र-मंथन से निकले विष को पी जाते है—वे नीलकंठ हैं।

अन्य भारतीय समाजवादी, व्यक्ति या समाज की महत्ता के द्वन्द्व को परम्परागत सतही वाद-विवाद मे ही उलझे रहे। उनकी दृष्टि, व्यक्ति बड़ा है या समाज, तक ही सीमित रही। दोनो की आपसी पृथकता या अधीनता को स्वीकार किया गया। नरेन्द्र देव तथा जयप्रकाश नारायण ने आधुनिक युग के आर्थिक दबाव तथा व्यक्ति की सह-सम्बन्धता के आधार पर व्यक्ति को समाज के सामने गौण बना दिया।[2] जबकि दूसरी तरफ लोहिया ने अन्योन्याश्रितता के इस प्रश्न को सामाजिक तथा दार्शनिक दोनो आधारो पर स्पष्ट करने का प्रयास किया। व्यक्ति समाज से पृथक नहीं वल्कि उसका एक अभिन्न अंग है। किन्तु अंग अपनी पूर्णता की स्थिति लिए हुए है और उसकी यह पूर्णता वृहद् समुदाय के घेरे में ही देखी जा सकती है।

---

1. लोहिया: मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, हैदराबाद: नवहिन्द, 1962, पृ. 8-9.
2. देव, नरेन्द्र: राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी: ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2030, पृ. 189, 459 तथा नारायण, जयप्रकाश: समाजवाद, सर्वोदय और लोकतन्त्र, पटना, 1973, पृ. 17-18.

ऐसी व्यवस्था के लिए निश्चित रूप से एक ऐसी राज्य-संरचना की आवश्यकता होती है, जहां वह व्यक्ति तथा समाज दोनों की पूर्णता को बनाये रखने हेतु आवश्यक वातावरण तथा परिस्थितियां पैदा करें। ऐसा वातावरण न तो व्यक्तिवादी राज्य पैदा कर सकता है और न ही सर्वाधिकारवादी। लोहिया के अनुसार व्यक्ति तथा समाज दोनो की पूर्णता चौखम्भा राज्य-व्यवस्था में ही संभव हो सकती है। जहां लोहिया व्यक्ति की पूर्णता हेतु अपनी राजनीतिक-संरचना को गाँव से शुरू करते हैं तथा सामाजिक पूर्णता हेतु उसे विश्व सरकार तक ले जाने का प्रयास करते हैं। अतः अगले अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि लोहिया किस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक हित प्राप्ति हेतु राजनीतिक-संरचना प्रस्तुत करते हैं।

राज्य की भूमिका

1. राज्य को प्रकृति एवं स्वरूप

लोहिया ऐसी राजनीतिक संरचना विकसित करना चाहते थे, जहाँ व्यक्ति की पूर्ण स्वायत्तता तथा जनसामान्य की अधिकतम हितपूर्ति हो सके। चूंकि उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनो राज्य-व्यवस्थाओं मे राजनीतिक शक्ति एक केन्द्र मे सीमित रहती है। सीमित केन्द्रीकृत व्यवस्था में जन-सामान्य की स्वायत्तता तथा हितपूर्ति सम्भव नही हो सकती, क्योंकि राजनीतिक सत्ता कुछ व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित हो जाती है। जिसका लक्ष्य सामान्य जन के हितो की कीमत पर अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति करना रहता है। लोहिया के अनुसार उदारवादी प्रजातन्त्र की असफलता के कारण सर्वहारा की तानाशाही का जन्म हुआ। किन्तु वह भी उसी प्रकार व्यक्ति को पूर्णता की स्थिति मे लाने में असफल रहा। लोहिया ने लिखा है: "पुराने जनतन्त्र की अपूर्णता के कारण मजदूरो की तानाशाही का सिद्धान्त आया। लेकिन दोनों ही मामूली इन्सान की बुनियादी आकांक्षाओं को पूरा नही कर सके।"[1] इसी क्रम में लोहिया ने उदारवादी शक्ति विभाजन की आधुनिक योजना—संघवादी व्यवस्था—की अपूर्णताओं का विवेचन किया है। संघात्मक व्यवस्थाओं में शक्तियां दो केन्द्रो-केन्द्र तथा प्रान्त-में विभाजित रहती है। हालांकि केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा संघबद्ध इकाइयों को कुछ अधिकार दे दिये जाते हैं, किन्तु उनकी शक्तिया बहुत सीमित होती हैं। साथ ही, ये सीमित शक्तियां भी किसी वैधानिक कानून का अंग नहीं वरन् यह सर्वोच्च सत्ता की सलाह मात्र होती है। प्रान्त को न तो वैधानिक और न ही कार्यात्मक शक्तियां पूर्णरूप से प्राप्त होती है। फलतः इनका स्थानीय-संकीर्ण रूप होता है। अतः ये किसी समुदाय की जीवन पद्धति या समुदाय के जीवन की समरूपता के साथ सम्पृक्त नही हो पाती। यहां समुदाय की जीवन-पद्धति उच्च-सत्ता द्वारा निर्धारित होती

---

1. लोहिया: फर्गमेंट्स आव् ए वर्ल्ड माइन्ड, कलकत्ता: मैटगायानी, 1952, पृ.4.

है। इस नियन्त्रण की व्यवस्था में स्वतः ही समुदाय की पूर्णता की प्राप्ति असम्भव हो जाती है।

अतः ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग तथा समुदाय की महत्ता स्वीकार की जाये और उनके व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति हेतु पूर्ण अवसर मिल सके। लोहिया के अनुसार ऐसी राजनीतिक संरचना न तो ब्रिटेन तथा अमेरिका की उदारवादी व्यवस्था दे सकती है और न सोवियत रूस की साम्यवादी व्यवस्था। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमे इन दोनो से भिन्न राज्य संरचना को विकसित करने का प्रयास करना चाहिए, जिसके द्वारा समाजवादी लक्ष्यो को प्राप्त कर सकें। लोहिया के अनुसार ऐसी *राजनीतिक व्यवस्था चौखम्भा-राज्य-योजना मे ही सम्भव हो सकती है।* जहाँ गांव, मण्डल, प्रान्त तथा केन्द्र के अपने आर्थिक स्रोत होंगे, अपनी नियोजन-मशीनरी होगी तथा अपनी नौकरशाही होगी।[1] अतः यहां प्रत्येक समुदाय के लिये यह सम्भव होगा कि वह अपनी इच्छानुसार जीवन-निर्वाह कर सके। महत्ता के आधार पर समस्याओ का समाधान तथा अधिकतम हितों की प्राप्ति चौखम्भा व्यवस्था मे ही सम्भव हो सकती है। जैसाकि लोहिया ने लिखा है: "राज्य का सामान्यीकरण इतना संगठित और विस्तृत होता है कि इसमें प्रत्येक लघु-समुदाय के लिए यह सम्भव होगा कि वह अपनी इच्छानुसार जीवन-निर्वाह करें। यद्यपि जीवन के ये विविध रास्ते, राज्य में विभिन्न समुदायों को मजबूती से बाधने के लिए सामान्य शर्त के रूप में रहने चाहिए।—......... आज शक्ति के समुचित वितरण के लिए अनन्त इच्छायें चाहिये और देश की एकता तथा संयुक्तता के साथ प्रत्येक लघु-समुदाय को अपनी मौलिक-उद्भावनाओ के साथ जीने देना चाहिए।"[2]

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन मे जनकल्याण हेतु लघु-इकाई के रूप मे ग्राम की महत्ता—विकेन्द्रित व्यवस्था—स्वीकार करने की एक लम्बी परम्परा रही है। लोहिया ने भी विकेन्द्रीकरण की परम्परा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। "मैं चाहता हूँ कि सुदूर अतीत मे हमारे देश या अन्य स्थानो मे लोकतन्त्र था, उसके भी ऐसे विवरण प्राप्त किये जायें।"[3] लोहिया से पहले सी. आर. दास, डॉ. भगवानदास तथा गाँधी के चिन्तन में इसके तत्व

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 409.
2. लोहिया : फ्रैगमेंट्स ऑव् ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता : मैत्रायान, 1952 पृ. 71.
3. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 129.

देख सकते हैं। सी. आर. दास ने कांग्रेस के गया अधिवेशन (दिसम्बर 1922) में, अपने अध्यक्षीय भाषण में, ग्राम्य जीवन का संगठन और लघु स्थानीय केन्द्रों की व्यावहारिक स्वायत्तता को, स्वराज्य की आवश्यक शर्त के रूप में मानने का आग्रह किया।[1] उन्होंने कहा : "मेरा मानना है कि वास्तविक स्वराज्य तभी प्राप्त कर सकते हैं, जबकि सरकार की शक्तियों को लघु स्थानीय इकाइयों को सौंप दिया जाये।"[2] इसी मान्यता के आधार पर सी. आर. दास तथा डॉ. भगवानदास ने स्वराज्य योजना की आधार रेखाओं के प्रारूप को तैयार किया और कांग्रेस के सन् 1923 के प्रारम्भ में हुए अधिवेशन में रखा तथा निवेदन किया कि कांग्रेस इसी सिद्धान्त के आधार पर राज्य सचालन की योजना बनाये। इस योजना का मुख्य आग्रह विस्तृत विकेन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था पर था, जिसमें अधिकतम स्थानीय स्वायत्तता तथा उच्च केन्द्र द्वारा निम्नतम नियन्त्रण की व्यवस्था हो। प्रशासन के अंग गाँव, शहर, जिला, प्रान्त तथा अखिल भारतीय केन्द्रीय इकाई हो।[3] इस संदर्भ में जहां तक गांधी का प्रश्न है उनकी विकेन्द्रीकरण की मान्यता दो रूपों–आत्मनिर्भर गाँव और ग्राम गणराज्य––में प्रकट हुई। गांधी ने आत्मनिर्भर गांव और ग्राम स्वराज्य का विचार इसलिए रखा कि जनता अपनी किस्मत का खुद फैसला करे, खुद अपने ऊपर शासन करे, खुद अपनी अर्थव्यवस्था चलाये और उसे बाहर से मशविरे और हस्तक्षेप पर निर्भर न करना पड़े।[4] किन्तु गांधी की मान्यता एक विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित रही। दूसरे शब्दों में, गांधी की विकेन्द्रीकृत राज्य योजना की प्रथम तथा अन्तिम इकाई गांव है। जैसा कि गांधी ने स्वयं लिखा है कि "ग्राम स्वराज का मेरा विचार एक पूर्ण गणतन्त्र का होगा, जो अपनी मूल आवश्यकताओं में अपने पड़ोसियों से स्वतन्त्र तथा पृथक होगा।"[5] लोहिया ने गांधी से विकेन्द्रीकरण की योजना को मूल रूप से स्वीकार किया। किन्तु अपनी राज्य-संरचना की परिधि आत्म निर्भर ग्राम तथा ग्राम-गणराज्य तक ही सीमित नहीं रखी वरन् वे उसमें वृहद् राष्ट्रीय मान्यता को

---

1. उद्धृत, डाल्टन, डी. जी. : इण्डियन आइडिया ऑव् फ्रिडम, गुडगांवा : अकादमी प्रेस, 1982, पृ. 171.
2. दास, सी. आर. : फ्रिडम थ्रो डिसओबीड्यन्स, मद्रास : अर्क, पृ. 40.
3. दास, सी. आर. : आवट लाइन स्किम ऑव स्वराज्य, मद्रास, 1923, पृ. 3-4, साथ ही, श्री प्रकाश : डॉ. भगवानदास, मेरठ : मीनाक्षी, 1970, पृ. 208-11.
4. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 128.
5. हरिजन, 26 जुलाई 1942, द कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मा गांधी, दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑव इंडिया, 1979, वो. 76, पृ. 3(8

भी लिए हुए हैं। अतः लोहिया ने गांधी से दिशा ली, उसे सिद्धान्ततः नहीं स्वीकार किया। जैसाकि लोहिया ने कहा है: "ग्राम सरकार की जो बात कही गयी है वह महज औपचारिक, रस्मी है तथा वह बाद मे ख्याल आने पर। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें दिमाग पर जोर डालने और सोचने की जरूरत है. अतः इस मामले मे गांधीजी ने जो खास हल बताये उनसे ही सन्तुष्ट नही हुआ जा सकता, यहां केवल दिशा ही महत्वपूर्ण है और दिशा······विकेन्द्रित राजनीतिक प्रणाली है।"[1]

लोहिया चाहते थे कि निम्न स्तरीय शक्ति के द्वारा उच्च स्तरीय शक्ति का निर्माण हो। शक्तियो को इस दिशा में बिखराव का उल्लेख करते हुए, लोहिया ने लिखा है: "ताकत जनता से निकलकर ऊर्ध्वगामी बने, ऊपर की तरफ जाये। पानी फूटकर ऊपर की ओर निकलता है, जनता की ताकत क्षेत्र, जिला, प्रदेश और सारे देश की तरफ जाने की बजाय, हमारे देश में ठीक इसके उल्टा होता है।"[2] इस तरह लोहिया का मुख्य आग्रह राज्य सत्ता का नीचे से ऊपर की ओर बटवारें पर था। अतः उन्होने शक्ति वितरण मे प्रमुख तथा प्रथम केन्द्र गाव को बनाना चाहा। लोहिया ने कहा है "जनता का राज अगर कायम करना है तो वह गाँव············से करना होगा। गाँवो के मामले का बहुत काम गाँव-पंचायत के जरिये होना चाहिए।"[3] किन्तु लोहिया की चौखम्भा राज्य योजना गांधी के आत्म-निर्भर गांव या ग्राम गणराज्य की नहीं है। चौखम्भा व्यवस्था तो असंख्य गांवों को, उनके आर्थिक तथा सांस्कृतिक संयुक्त सम्बन्धो के आधार पर, एक राष्ट्र के रूप मे मान्यता देता है। अतः चौखम्भा राज्य की धारणा आत्मनिर्भर और ग्राम-सरकार की नही वरन् प्रबुद्ध, जीवन्त और विस्तृत गाव (राष्ट्र) की है। लोहिया के शब्दों मे, "चौखम्भा व्यवस्था को आत्म निर्भर गाव के साथ भ्रमित नही करना चाहिए। अगर ऐसा होना तो चौखम्भा राज्य कहने की क्या आवश्यकता थी। जैसाकि भारत मे है, उस समय सात लाख विभिन्न राज्य होते। चौखम्भा राज्य के अन्तर्गत, सात लाख गाव और सैकड़ो जिले असंख्य आर्थिक और सांस्कृतिक शर्तों को रखते हुए एक राष्ट्र के रूप में सूत्रबद्ध होते हैं। चौखम्भा राज्य आत्म-निर्भर गांव के समान नहीं अपितु प्रबुद्ध और विस्तृत गांव के समान

---

1. लोहिया: मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद: नवहिन्द, 1963, पृ. 129.
2. लोहिया: क्रान्ति के लिए संगठन, हैदराबाद: नवहिन्द, 1963, भाग-1, पृ. 198.
3. संघर्ष, वर्ष-7 संख्या 25, 25 अप्रेल, 1959, पृ. 12.

है।"[1] यहां लोहिया सी. आर. दास के थोड़े नजदीक चले जाते हैं, क्योंकि लोहिया की भांति दास पहले ही कह चुके हैं कि "मैं नहीं समझता कि ग्राम-समुदाय असम्बद्ध इकाई के रूप में अस्तित्व में रह सकेंगे। उन्हें सहयोग तथा एकीकरण की व्यवस्था द्वारा साथ-साथ रहना चाहिए ... ...—केन्द्रीय सत्ता को कुछ ऐसे नियन्त्रण के अधिकार होने चाहिये, जिन्हें वह उपयुक्त प्रावधानों के अन्तर्गत प्रयोग कर सके।"[2] अतः हालांकि लोहिया ने विकेन्द्रीकरण की मूलदिशा गांधी से स्वीकार की है, किन्तु उनकी योजना गांधी की अपेक्षा सी. आर. दास से कुछ नजदीक है, किन्तु लोहिया की मान्यता सी. आर. दास की भांति राष्ट्र तक ही नहीं रुकती, वे पांचवें खम्भे के रूप मे विश्व सरकार की योजना बनाते हैं जिसका हम आगे चलकर, छठे अध्याय मे, विस्तृत रूप से विवेचन करेंगे।

लोहिया का मुख्य आग्रह लघु-समुदाय के रूप मे ग्रामीण जन-समुदाय की राजनीतिक-गत्यात्मकता पर जोर देने पर रहा। लोहिया ने उन लोगों की जोरदार भाषा मे आलोचना की, जिन्होंने ग्रामीणों की मानसिक संकीर्णता-अशिक्षित, रूढियो तथा जातीय मान्यताओं से ग्रसित—के कारण उन्हें अधिकार तथा शक्ति देने से झिझकते है। लोहिया ने कहा कि हो सकता है कि ग्रामीण प्रतिनिधि स्वार्थी, अनभिज्ञ तथा न्याय की अपेक्षा जाति को अधिक महत्व दें, किन्तु उनमें जो जड़ता ग्रसित है, उसमे गति लाने का एकमात्र तरीका यही है कि उन्हें अधिकार तथा शक्ति दी जाये। लोहिया ने माना कि सच्चे अर्थों मे जनतन्त्र की प्राप्ति केवल तभी हो सकती है, जब सामान्य नागरिक को शासन-प्रक्रिया में भागेदारी का मौका मिले। इसके लिए आवश्यक है कि शक्ति का प्राथमिक केन्द्र गाँव को माना जाये। "लघु-समुदायों के लोगो को शक्ति देने से ही प्रथम श्रेणी का लोकतन्त्र संभव हो सकता है। चौखम्भा-राज्य में ही सामान्य व्यक्तियो को प्रभावशाली और बौद्धिक जनतन्त्र देना सम्भव दिख सकता है।"[3]

इस सन्दर्भ मे अन्य भारतीय समाजवादियों में विशेषकर जयप्रकाश नारायण (1959) को ले सकते हैं, जिन्होंने विकेन्द्रीकरण योजना पर जोर

1. लोहिया : फर्गमेंट्स ऑव ए वर्ल्ड माइन्ड, कलकत्ता : मैंटरायानी, 1952, पृ. 71.
2. सेन, राजेन : (सम्पादित), देशबन्धु चितरंजन, कलकत्ता, 1926, पृ. 213.
3. लोहिया : फर्गमेंटस ऑव ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता : मैंटरायानी, 1952, पृ. 73-74.

दिया। उनके अनुसार शक्तिशाली केन्द्र हमें धीरे-धीरे लोकतन्त्र से दूर कर देता है तथा एक सर्वाधिकारवादी व्यवस्था को जन्म देता है।[1] वास्तविक सहभागी लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक विकेन्द्रीकरण–पंचायत राज-व्यवस्था—को स्वीकार किया जाये। इस व्यवस्था का आधार ग्राम-पंचायत हो तथा इसकी प्रभावशालीता के लिए अनिवार्य है कि स्थानीय स्तर के सभी अधिकार उसे प्रदान किये जाये। उसके अपने स्वयं के न्यूनतम आर्थिक स्रोत हो, नौकरशाही को जनप्रतिनिधियो के नियन्त्रण में रखा जाये आदि। किन्तु जयप्रकाश ने राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की योजना के साथ सहमति के आधार पर निर्णय निर्धारण तथा दल-विहीन लोकतंत्र की मान्यता रखी, जो कि उन्हें लोहिया की योजना से दूर ले जाती है। लोहिया के चिन्तन में सहमति के आधार पर निर्णय-निर्धारण को कोई स्थान नहीं मिलता। हालांकि लोहिया की व्यवस्था में सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता की कल्पना की गयी है, किन्तु उन्होंने कुछ विशिष्ट क्षेत्रों मे, विशेषकर अभिव्यक्ति, विश्व भ्रमण, बसने आदि, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ सामाजिक निर्णयो का आधार बहुमतता को ही माना। इसी प्रकार लोहिया ने कभी भी दलविहीन स्थिति को स्वीकार नही किया। जैसा कि एम. एन. राय की पुस्तक ह्यूनिस्ट पोलिटिक्स पर टिप्पणी करते हुए उन्होने कहा कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए जनता मे आलोचनात्मक दृष्टिकोण होना जरूरी है, ताकि वे जन-प्रतिनिधियों के कार्यों तथा गतिविधियो का मूल्यांकन कर सकें। किन्तु इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण के जन्म में गैर-दलीय व्यक्ति या दल-विहीन स्थिति विशेष योगदान नही दे सकती। इसके लिए एक ईमानदार राजनीतिक दल ही सार्थक हो सकता है। "यहा तक कि समाजवादी पार्टी भी इसमे असफल होती है तो अन्य पार्टी को इस उद्देश्य को सामने रखकर आगे आना चाहिये।"[2]

अब हम लोहिया की राज्य-योजना पर आते हैं, जो उनकी चौखम्भा-राज्य की अवधारणा के रूप मे प्रकट हुयी। चौखम्भा राज्य की मान्यता यह है कि सत्ता को, गाँव, जिला, प्रान्त तथा केन्द्र, इन चार समान शक्ति वाले खम्भों मे वितरित कर देना चाहिये। हिन्द किसान पंचायत के प्रथम वार्षिक अधिवेशन (रीवां, 26 फरवरी, 1950) के अध्यक्ष पद से बोलते हुए लोहिया ने कहा : "सर्वोच्च अधिकार केवल केन्द्र तथा संघबद्ध इकाइयो मे न रहने

---

1. नारायण, जयप्रकाश : स्वराज फार दि पीपल, वाराणसी : सर्वसेवा संघ, 1968, पृ. 7-8.
2. मैनकाइंड, वो. 14, नं. 2, फरवरी-मार्च 1970, पृ. 86.

चाहियें, इन्हें तोड़कर छोटे-छोटे क्षेत्रों में, जहां नर-नारियो के समूह रहते हैं, बसेर देना चाहिए। संविधान बनाने की कला मे अगला कदम चौखम्भा दिशा की ओर होना चाहिये।"[1] चौखम्भा योजना केवल मात्र शासन प्रबन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसा नहीं होगा कि संसद अथवा प्रान्तों की विधान सभाओं में कानून बनाये जायें और ग्राम तथा मण्डल की संस्थायें इन कानूनों का केवल पालन करें। यह जीवन का एक ऐसा ढंग होगा, जो मानव के सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखेगा—जैसे उत्पादन, स्वामित्व व्यवस्था, योजना, शिक्षा आदि। इस व्यवस्था में राज्य की सर्वोच्च सत्ता इस प्रकार बिखरी रहेगी कि उसके अन्दर रहने वाले प्रत्येक उस तरह अपना जीवन निभा सकेंगे, जिस तरह वे चाहेंगे। किन्तु एक केन्द्रीय बन्धन अवश्य रहेगा, जो इन इकाइयों को एक सूत्र मे बांधे रख सके।

लोहिया ने शक्ति-वितरण योजना को इस रूप मे प्रस्तुत किया है कि चौखम्भा राज्य की प्रत्येक इकाइयां एक दूसरे से निकट-सम्बन्ध से जुड़ी रह सकेंगी। जैसे राज्य की सशस्त्र सेना तथा परराष्ट्र नीति केन्द्र के अधीन, सशस्त्र पुलिस प्रान्त के अधीन और पुलिस मण्डल तथा ग्राम के अधीन रहेगी। लोहा और इस्पात के उद्योग केन्द्र के नियन्त्रण में, छोटी-मशीनों वाले भावे कपड़े के उद्योग ग्राम तथा मण्डल के अधिकार मे रहेंगे। चौखम्भा-राज्य में मूल्यों पर नियन्त्रण केन्द्रीय शासन रखेगा, जबकि कृषि ढांचा और उसमे पूंजी तथा श्रम का अनुपात ग्राम और मण्डल की इच्छा पर करेगा। सहकारी समितियां ग्राम तथा कृषि सुधार, सिंचाई का अधिकांश भाग, बीज, भू-राजस्व वसूली आदि राज्य नियन्त्रित विषय चौखम्भा राज्य मे ग्राम और मण्डल के अधीन किये जायेंगे,[2] लोहिया का आग्रह था कि कर के रूप मे केन्द्र के पास जो राजस्व इकट्ठा होता है, उसका एक भाग ग्राम को, दूसरा भाग मण्डल को, तीसरा भाग प्रान्त को और चौथा भाग केन्द्र को प्राप्त होना चाहिए, ताकि प्रत्येक इकाई अपने-अपने कार्यों का सही ढंग से सम्पादन कर सके।[3]

लोहिया के अनुसार चौखम्भा राज्य क्षेत्रवाद और गुटबंदी के मुद्दों से परे होगा। यह एक ऐसी संरचना है, जिसमे सरकार या समाज के किसी गुट को संकीर्ण स्वार्थ पूर्ति का मौका नहीं मिलेगा, क्योंकि यह ऐसा प्रारूप प्रस्तुत करता है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति, किसी भी स्तर पर गुटबन्दी द्वारा की जाने

---

1. संघर्ष, वर्ष 8, संख्या 17, 13 जुलाई 1952, पृ. 8.
2. लोहिया : फ्रेगमेंट्स ऑव ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता : मैंटरायन, 1950, पृ. 71-72.
3. लोहिया : क्रांति के लिए संगठन, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, भाग-1, पृ. 112.

वाली शक्ति दुरुपयोग को अच्छी तरह समझ सकता है। गुटबंदी स्थिति के लिए आवश्यक है कि उसकी शक्ति उच्च नेतृत्व के हाथ में हो। लोहिया ने कहा कि आज के भारत में सरकार और राजनीतिक दल दोनों में करोड़ों का एक नेता हो जाता है और अन्य छोटे-छोटे नेताओं का निर्माण भी वह अपने प्रभाव द्वारा करता है। जनता द्वारा अर्जित की हुयी शक्ति को वह एक नेता इस ढंग से प्रयोग करता है कि प्रदेश तथा क्षेत्र के संगठन क्रमशः अपने से *उच्चतर संगठन और अन्त में केवल उस एक नेता के मुख की ओर ताकते* हैं। ऐसी स्थिति में निहित स्वार्थों की पूर्ति प्रमुख हो जाती है, फलतः गुटबन्दी का होना स्वाभाविक है। जबकि चौखम्भा व्यवस्था में राज्य शक्ति जन-संगठनों में बिखरी हुयी होती है, जहां प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रमुख भूमिका होती है। अतः गुटबंदी का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही, लोहिया ने चौखम्भा व्यवस्था को क्षेत्रवाद जैसी उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का विकल्प भी माना है।[1] इस संदर्भ में लोहिया के कहा कि अगर दो वृहद् शक्ति सम्पन्न केन्द्रों—केन्द्र तथा राज्य—को बदलकर चार समान शक्ति वाले केन्द्रों में सत्ता वितरित कर दी जाये तो हर समस्या का समाधान अपने स्तर तथा परिस्थितियों के अनुसार खोज लिया जायेगा। फलस्वरूप भारत में क्षेत्रीय संकीर्णता का विद्रोही स्वर दब जायेगा।

2. क्लासिकल राजनीतिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध

लोहिया द्वारा शक्तियों के बिखराव की जो योजना प्रस्तुत की है, उसे लेकर कुछ लोग अराजकतावाद से सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करते हैं तथा जो चार संगठनों की मान्यता है, उसमें बहुलवाद की जड़ें खोजने का प्रयास किया है। किन्तु लोहिया की राज्य सम्बन्धी धारणा निरपेक्षवाद, हीगेलियन आदर्शवादी स्कूल तथा मार्क्सवाद से तो पूर्णतः भिन्न है ही, किन्तु अराजकतावादी, बहुलवादी तथा गिल्ड सोशलिस्ट जैसे राज्य-सिद्धान्तों से भी दूर है। लोहिया की राज्य संरचना की मान्यता अपना निजी अस्तित्व लिये हुए है। चौखम्भा राज्य-योजना को न तो किसी क्लासिकल राजनीतिक सिद्धान्तों पर लागू कर सकते हैं और न ही उसमें उनके तत्त्व ढूढ सकते है। परन्तु फिर भी यह वांछनीय होगा कि इन पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालकर यह देखने का प्रयास करें कि यह चौखम्भा राज्य योजना उनसे कितनी र जाती है।

---

1. लोहिया : फ्रैगमेंट्स ऑव ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता : मेंटरायन, 1952, पृ. 72-73

अराजकतावादियो की भांति लोहिया ने राज्य सत्ता में वृद्धि तथा केन्द्रीकरण को आशंका की दृष्टि से देखा। इसी कारण उन्होने शक्तियो के विघटन तथा वितरण पर जोर दिया। लगभग अराजकतावादियो की भाषा मे, प्रथम युक्त प्रान्तीय सोशलिस्ट पंच सम्मेलन (लखनऊ, 28-29 मई, 1949) के अध्यक्ष पद से, बोलते हुए लोहिया ने कहा : "राज्य को खत्म करने की बात कई लोगों ने की है। राज्य की जरूरत सम्पत्ति वालो को चोर-डाकुओ से बचाने के लिए ही खासतौर से समझी गयी थी, लेकिन जितने भी भले लोग हुये हैं, उनका यही कहना है कि जिस दिन राज्य टूट जायेगा, उसी दिन असली शान्ति होगी ···· परन्तु अनुभव ने यह बताया है कि जिस रास्ते पर दुनियां चली है, उस पर चल कर तो राज्य खत्म नही हो सकता। बड़े-बडे युद्ध हुए, वडी-बड़ी क्रान्तियां हुयी। लोगो ने समझा कि अब राज्य सत्ता का अन्त हो जायेगा। लेकिन हुआ उल्टा ही, राज्य और मजबूत हो गया। ···· ·······राज्य को खत्म करने का एक और रास्ता है और वह है राज्य-शक्ति का बटवारा कर दिया जाये···········राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण बहुत आवश्यक है। राज्य-लक्ष्मी को दिल्ली और लखनऊ मे ही कैद करके नही रखना चाहिए, उसे गांव-गांव मे पहुँचाना है।"[1] किन्तु लोहिया एवं अराजकतावादियो मे मूलभूत अन्तर है। अराजकतावादियों का अन्तिम उद्देश्य राज्य को खत्म करना रहा। अराजकतावादियो की मान्यता थी कि राज्य का अन्त कर दिया गया तो स्वाभाविक है कि व्यक्ति के लक्ष्यो एवं उद्देश्यो मे कोई तनाव या द्वेष नही होगा। सभी राजनीतिक तथा आर्थिक मुद्दे स्वतः सुलझ जायेंगे। अतः यहां राज्य या अन्य किसी सगठित शक्ति की कोई जरूरत नहीं है। दूसरे शब्दों में, मानव जीवन के सचालन के लिए राज्य आवश्यक नही है। दूसरी तरफ न केवल लोहिया बल्कि अन्य भारतीय समाजवादियो में किसी ने भी राज्य के अन्त का कभी समर्थन नहीं किया। लोहिया की चौखम्भा-राज्य-व्यवस्था में राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण तो सम्भव होगा, किन्तु इस व्यवस्था मे केन्द्र हमेशा एक ऐसी संस्था के रूप में कार्य करेगा जो इसकी इकाइयों में सहयोग तथा सामंजस्य बनाये रखे। अराजकतावादियों से भिन्न लोहिया ने माना कि एक केन्द्रीय सत्ता आवश्यक है।[2] किन्तु शक्ति वितरण की ऐसी योजना प्रस्तुत की जाये कि उसमे शक्तियो के केन्द्रीयकरण की सम्भावना बिल्कुल खत्म हो जाये तथा वह ऐसा मार्ग प्रस्तुत करें

---

1. संघर्ष, वर्ष 7, अंक 32, 13 जुलाई 1949, पृ. 12.
2. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 408.

जिसमें प्रत्येक लघु-समुदाय को अपनी आत्म अभिव्यक्ति का मौका मिले। चौखम्भा व्यवस्था ऐसा आधार प्रस्तुत करती है, किन्तु उसका तात्पर्य राज्य का अन्त करना कतई नहीं है।

अराजकतावादी राज्य द्वारा की जाने वाली हिंसा को तो गलत मानते है परन्तु राज्य का अन्त करने हेतु हिंसा की स्वीकृति देते हैं। बाकुनिन और प्रिंस क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादियों ने सशस्त्र हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा राज्य को समाप्त करने पर जोर दिया। जबकि लोहिया ने हिंसा को न केवल राज्य के संदर्भ में बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अस्वीकार किया है। लोहिया के अनुसार हिंसा, चाहे राज्य द्वारा की जाये या व्यक्ति द्वारा, अनुचित है। अतः उन्होंने हिंसा के स्थान पर "सिविल-नाफरमानी" का समर्थन किया। लोहिया के अनुसार सिविल नाफरमानी का उद्देश्य राज्य का अन्त करना नहीं, वरन् वह वर्तमान के उदारवादी तथा साम्यवादी राज्यों के पुनर्निर्माण का साधन है। अर्थात् *अहिंसात्मक साधनों द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना* होगा तथा चौखम्भा व्यवस्था में वह राज्य-सत्ता पर व्यावहारिक नियन्त्रण का काम करेगी। साथ ही, अराजकतावादियों ने हिंसा तथा राजनीति में कोई अन्तर नहीं किया। अतः उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों को पूर्णतः अस्वीकार किया। दूसरी तरफ लोहिया का आग्रह अधिकांश व्यक्तियों का सक्रिय राजनीति से सम्बन्ध जोडने का रहा। लोहिया ने कहा " मैं यही चाहता हूं कि 95% से ज्यादा लोगों को राजनीति में ले जाऊं, जो कि आज-कल बिल्कुल राजनीति-रहित हैं।"[1]

अराजकतावादियों का मानना है कि समाज से पृथक् व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर राज्य के सम्पर्क में आता है। अराजकतावादियों की दृष्टि में व्यक्ति के अधिकार ही सब कुछ हैं। उन्होंने समाज के प्रति सभी उत्तरदायित्वों से व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्र रहने पर जोर दिया है। *समाज के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध उनकी दृष्टि में हिंसा पर* आधारित हैं।[2] दूसरी तरफ लोहिया ने, जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा, इनसे पूर्णतः भिन्न

---

1. रेत्ती, बी बी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मला, ओ. पी. : (सम्पादित) लोक सभा में लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1973, भाग-4, पृ. 256.
2. ग्रे, एलेक्जेण्डर : द सोशलिस्ट ट्रेडिशन, न्यूयार्क : लोंगमैंस, 19'8, पृ. 381.

यह स्वीकार किया कि व्यक्ति सामाजिक घेरे मे ही अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। लोहिया ने अपनी समाजवादी धारणा मे व्यक्ति को प्रथम केन्द्र माना किन्तु उनकी योजना विश्व-समुदाय तक जाती है। लोहिया ने व्यक्ति की आत्म-पूर्णता वृहद् सामाजिक घेरे के संदर्भ मे ही देखी।

अराजकतावादियों का अन्तिम उद्देश्य राज्य का अन्त करना रहा जबकि बहुलवादी राज्य को बनाये रखकर उसकी सम्प्रभुता को विभिन्न समुदायों में वितरित कर देने पर जोर दिया। अतः स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि क्या लोहिया की मान्यता बहुलवादी सिद्धान्त के कुछ निकट है ? हालांकि लोहिया का आग्रह भी राज्य-शक्ति का विभिन्न संगठनो मे विघटन पर रहा है। बहुलवादियों की भांति उसने भी माना कि शक्तियों के केन्द्रीयकरण से निरंकुशता की निरन्तर संभावना बनी रहती है। जबकि शक्तियो के विभाजन द्वारा राज्य की दमनकारी सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। लोहिया के अनुसार लोकप्रिय सम्प्रभुता की किसी भी प्रकार की मान्यता उस समय तक कल्पनामात्र है, जबकि राज्य शक्ति के विभिन्न स्तरो मे भागीदारी तथा प्रशासन मे प्रत्यक्ष सहभागिता प्रदान न कर दी जाये।[1] बहुलवादी विचारक लास्की के चिन्तन से कुछ सहमति होते हुए भी सम्पूर्ण रूप से बहुलवादियों और लोहिया की समाजवादी धारणा मे तात्विक अन्तर है। दूसरे शब्दों मे लोहिया की मान्यता गियार्क, मेटलैंड, फिजिस, मैकीवर, लिंडले आदि बहुलवादी विचारको से भिन्न है। बहुलवादियो का विश्वास है कि मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति विभिन्न सामाजिक समुदायो से होती है। इन समुदायो मे कोई भी एक दूसरे से श्रेष्ठतर नही है। अत. बहुलवादियों की मांग रही कि सभी समुदायो को राज्य के समकक्ष दरजा मिलना चाहिए। व्यक्ति की यह स्वतः इच्छा पर है कि राज्य सहित वह किसी भी समुदाय का सदस्य बने या नहीं। जबकि दूसरी तरफ लोहिया ने अन्य समुदायों तथा संगठनो को राज्य के समान कभी स्वीकार नही किया। लोहिया ने कहा कि व्यक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य के सदस्य के रूप में कार्य करें। राज्य तथा अन्य संगठनो में अन्तर करते हुए लोहिया ने, लोहिया एण्ड अमेरिका मीट की भूमिका में लिखा है : "राज्य एक ऐसा संगठन है, जिसको अनिवार्यतः स्वीकार करना तथा अपनाना होता है..........यह संभव है कि इस अनिवार्य संगठन की शक्तियो को कम कर दिया जाये।"[2] [illegible]

1. मैनकाइन्ड, वो. 1, नं. 7, फरवरी, 1957, पृ. 611,
2. बोफार्ड, हैरिस : लोहिया एंड अमेरिका मीट, मद्रास, 1961, (लोहिया द्वारा भूमिका पृ. 16 ए)

ने बहुलवादी सिद्धान्त के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि जब हम यह मानते हैं कि समाज विभिन्न वर्गों तथा समुदायों में बंटा हुआ है तो एक केन्द्रीय सत्ता के रूप में स्वतः राज्य आवश्यक तथा अन्य समुदायों से ऊपर होगा। उनके स्वयं के शब्दों में : "जब समाज वर्गों में बंटा हुआ है तो विभिन्न वर्गों मे शान्ति बनाये रखने के लिए भी "राज्य" जैसी संस्था आवश्यक होती है। इस दृष्टि से राज्य सब वर्गों तथा समुदायों के ऊपर भी है।"[1] नरेन्द्र देव का आग्रह राज्य मे शक्तियों के प्रतिकेन्द्रीयकरण पर है जबकि लोहिया ने *विभिन्न समुदायों में समन्वय करने हेतु राज्य को आवश्यक तो माना किन्तु* उसकी शक्तियों के पूर्णतः विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया।

बहुलवादी सिद्धान्त, आस्टिन द्वारा प्रस्तुत निरपेक्ष सम्प्रभुता की धारणा तथा जर्मन हीगेलियन आदर्शवादी स्कूल के अचुनौतीपूर्ण नैतिक सर्व-श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे आया। बहुलवादियों ने निरपेक्ष सम्प्रभुता तथा राज्यपूजा, दोनो ही मान्यताओं को अस्वीकार किया। परन्तु बहुलवादियों द्वारा राज्य सत्ता पर ही आक्रमण रहा, उनका लक्ष्य व्यक्ति की स्वायत्तता कभी नही रहा।[2] अतः इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लगभग सभी बहुलवादियों द्वारा व्यक्ति *तथा समाज के पूर्ण स्वायत्ततायुक्त सह-सम्बन्धता* के आधार को कभी स्वीकार नही किया गया। लोहिया ने भी बहुलवादियों *की भांति, आस्टिन तथा हीगल दोनों पर समान रूप से आक्रमण किया है।* निरपेक्ष सम्प्रभुता मे लोहिया को निरंकुशता तथा तानाशाही के तत्व दिखायी देते हैं। निरंकुश व्यवस्था द्वारा मनुष्य जाति का भविष्य अंधकारमय होता है। लोहिया ने लिखा : "जो लोग एक नये समाज का निर्माण करना चाहते हैं अगर वे अपने ही साथियों के साथ दमन से काम लेने की बात सोचते हैं तो उन्हें याद रखना चाहिए कि वे मनुष्य समाज के भविष्य को एक बड़े खतरे में डालकर ही ऐसा कर सकते हैं।"[3] हीगल की अचुनौतीपूर्ण नैतिक राज्य सत्ता की जगह लोहिया द्वारा राज्य *के प्रतिक्रमण का विरोध करने हेतु सत्याग्रह* को अधिकार के रूप में स्वीकार किया।[4] लोहिया ने इन दोनो अतिवादी स्थितियो

1. देव, नरेन्द्र : मार्क्सवाद और सोशलिस्ट पार्टी, लखनऊ, 1951, पृ. 10.
2. राइट, ए. डब्ल्यू. : जी. डी. एच. कोल एंड सोशलिस्ट डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड : क्लेरेन्डन, 1979, पृ. 14.
3. संघर्ष, वर्ष 1, अंक 20, 16 मई 1938, पृ. 3.
4. लोहिया : सिविल नाफरमानी : सिद्धान्त और अमल, हैदराबाद : नवहिन्द, 1957, पृ. 1.

से बचने के लिए शक्तियों के चार खम्भों में विभाजन पर जोर दिया। किन्तु लोहिया राज्य सत्ता के बिखराव तक ही अपनी मान्यता को सीमित नहीं रखते हैं, उससे आगे जाते हैं। शक्ति वितरण योजना का उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना था, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों की पूर्णता सम्भव हो सके।

व्यक्ति की महत्ता, राज्य की अनिवार्य स्वीकृति, श्रमिकों की उद्योगों मे सहभागिता आदि तत्व लोहिया को गिल्ड सोशलिज्म के कुछ निकट ले जाते है। किन्तु अन्य क्लासिकल राज्य सिद्धान्तों की भांति लोहिया गिल्ड-सोशलिज्म से भी दूर हैं। लोहिया की धारणा मे श्रमिकों के प्रशासन मे सहभागिता तथा उससे जुड़े मुद्दों का गिल्ड-सोशलिज्म से क्या सम्बन्ध है, इसकी आगे चलकर (पांचवें अध्याय में) विवेचना की जायेगी। अतः यहां पर केवल राज्य से संबन्धित पक्ष को ही ले रहे हैं। गिल्ड-सोशलिस्ट मानते हैं कि समाज में विभिन्न प्रकार के "एसोसियशन" होते हैं। उनका एसोसियशनों से तात्पर्य व्यक्तियों के उस वर्ग से है जो कि किसी समान उद्देश्य के लिए सहयोग से "कार्य" करने के लिए तैयार रहते हैं।[1] राज्य भी एक एसोसियशन है किन्तु विभिन्न एसोसियशनो में सहयोग तथा नियन्त्रण के कारण उनमें महत्वपूर्ण स्थान तो रखता है, किन्तु निरपेक्ष नहीं है।[2] एसोसियशनो की मान्यता गिल्ड-सोशलिज्म को बहुलवाद के निकट ले जाती है, किन्तु विभिन्न एसोसियशनों मे सहयोग तथा नियन्त्रण के कारण राज्य का जो महत्वपूर्ण स्थान है, वह लोहिया की मान्यता के निकट है। बहुलवाद तथा गिल्ड-सोशलिस्ट मे प्रमुख अन्तर यह रहा है कि बहुलवादी केवल राज्य की संप्रभुता शक्ति की अस्वीकृति तक ही सीमित रहे हैं, जबकि गिल्ड-सोशलिस्ट संप्रभुता शक्ति की अस्वीकृति के साथ ही उद्योगों में श्रमिकों का नियन्त्रण भी स्थापित करना चाहते हैं। जैसाकि विलियम मोरिस ने इस संदर्भ मे लास्की तथा कोल का अन्तर करते हुए लिखा है, "कोल एक रोमान्टिक, कवि तथा स्वप्नदर्शी था, वह नयी श्रमिक उग्रता से प्रेरित था तथा उसे एक औद्योगिक नियन्त्रण का सिद्धान्त देने को प्रतिबद्ध था। इसके विपरीत, लास्की का सैद्धान्तिक विकास बहुत ही अकेडेमिक रहा तथा उनका बहुलवाद ऐतिहासिक विधिशास्त्र की उपज के रूप मे सामने आया। लास्की, राज्य पर आक्रमण, उसे संप्रभुता से वंचित करने के

---

1. ग्रे, एलेक्जेण्डर : द सोशलिस्ट ट्रेडिशन, न्यूयार्क : लोगमैंस, 1948, पृ. 447.
2. कोल, जी. डी. एच : सेल्फ गवर्नमेंट इन इन्डस्ट्रीज, लन्दन : जी. बेल, 1918, पृ. 82.

लिए करते हैं, जबकि कोल का आक्रमण इसके साथ ही श्रमिक नियन्त्रण स्थापित करने के लिए भी है।"[1]

गिल्ड सोशलिस्ट राज्य की निरपेक्ष संप्रभुता के किसी भी सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। जैसाकि अभी उल्लेख कर चुके हैं, उनके अनुसार राज्य एक साधारण कार्यात्मक एसोसियशन है। राज्य मे किसी भी प्रकार की सार्वभौमिक संप्रभुता नही है तथा न ही हम उससे अपने अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों को प्राप्त करते हैं। संप्रभुता शक्ति संपूर्ण समुदाय में विभाजित है, जो हमारे अधिकारो का केन्द्र स्थान है। गिल्ड-सोशलिस्ट राज्य संप्रभुता के सिद्धान्त को अस्वीकृति के साथ ही वर्तमान मे प्रचलित प्रतिनिधित्व के सामान्य सिद्धान्त की भी नकारते हैं, क्योंकि व्यक्ति इस आधार पर सभी का पूर्ण प्रतिनिधित्व नही कर सकता। वह उनका पूर्ण प्रतिनिधित्व केवल विशिष्ट कार्यों तथा उद्देश्यों, जो कि उन व्यक्तियो के मध्य समान होते हैं, के आधार पर ही कर सकता है। समाज मे विभिन्नता की कसौटी कार्य ही होते हैं, अतः प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को कार्यात्मक होना चाहिए। इसी कारण जी. डी. एच. कोल ने कार्य की अवधारणा को प्रजातंत्र का वास्तविक तथा जीवन्त सिद्धान्त माना है।[2] जहा तक लोहिया का प्रश्न है, उन्होंने भी गिल्ड-सोशलिज्म की भाति संप्रभुता शक्ति के केन्द्रीय-करण का विरोध किया तथा उसके विभिन्न स्तरो पर विभाजन पर जोर दिया। साथ ही गिल्ड-सोशलिज्म की भांति लोहिया भी राज्य केन्द्रीय सत्ता को समन्वयकर्ता के रूप मे माना है। किन्तु लोहिया की राज्य अवधारणाओं मे कार्यात्मक प्रतिनिधित्व को कोई स्थान नही मिला है। लोहिया ने नागरिकों को सामान्य आधार पर ही प्रतिनिधित्व देने का समर्थन किया है। साथ ही, उनके अनुसार, हमारे समाज मे कार्यों के आधार पर इस प्रकार के एसोसियशन उभरकर नही आये हैं कि उनको प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जा सके।

अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि लोहिया की राज्य-अवधारणा अराजकतावादी, बहुलवादी, गिल्ड सोशलिज्म आदि मान्यताओं से परे है।

---

1. उद्धृत, राइट, ए. डब्ल्यू. : जी. डी. एच. कोल एंड सोशलिस्ट डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड : क्लेरेन्डन, 1979, पृ. 14.
2. कोल, जी. डी. एच. : लेबर इन द कोमनवेल्थ, 1918, पृ. 201.

लोहिया ने एक वृहद् समुदाय या पूर्ण के रूप मे राज्य को प्रमुखता दी है। किन्तु उसकी शक्तियों के पूर्णतः विभाजन पर आग्रह रहा, ताकि लघु समुदाय की पूर्णता तथा स्वायतता भी बनी रह सके। साथ ही दुबारा दोहराना वांछनीय होगा कि यहां की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ मे लोहिया की राज्य व्यवस्था जो स्वरूप धारण करेगी, उसे किसी क्लासिकल राज्य सिद्धान्त पर लागू करके नहीं जांच सकते। लोहिया की राज्य व्यवस्था का अपना निजी स्वरूप है। अतः उसके किसी एक पक्ष को लेकर क्लासिकल राजनीतिक सिद्धान्तो से तुलना करना उनकी व्यवस्था की समग्रता की अवहेलना करना होगा।

3. राज्य की सीमायें

प्रत्येक उदारवादी संविधान में राज्य पर कुछ संस्थात्मक नियन्त्रणो, स्वतन्त्र न्यायपालिका, संसदीय नियन्त्रण, सामयिक चुनाव का प्रावधान–की व्यवस्था की जाती है, ताकि व्यक्ति को राज्य के आक्रामक रूप से बचाया जा सके। किन्तु लोहिया का कहना है इस प्रकार की संस्थात्मक सीमायें असफल रही हैं क्योंकि राज्य इन प्रतिबन्धो का अतिक्रमण कर इन प्रतिबन्धो से अपने को मुक्त कर लेता है। सरकार द्वारा न्यायालय को इतनी पर्याप्त शक्तियां नहीं दी जाती कि वह उसके निरपेक्षवादी स्वरूप पर अंकुश का कार्य कर सके। "समर्थ जज लोग कैसे बने। जज लोगो को आज समर्थ नही बनाकर रखा गया है, उनके अख्तयार कम हैं।"[1] सरकार को हमेशा यह खतरा बना रहता है कि अगर न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को बढ़ा दिया गया तो सरकार और न्यायालय मे द्वन्द्व पैदा हो जायेगा। सरकार के सामने यह मान और इज्जत का प्रश्न पैदा होता है कि न्यायालय कही उसे चुनौती देने न लग जाये। अतः सरकार का हमेशा यह प्रयत्न रहता है कि न्यायालय उसकी मातहती मे कार्य करें। लोहिया के अनुसार सरकार तथा न्यायालय का द्वन्द्व हमेशा राष्ट्र के लिए स्वस्थ्यकर होता है, किन्तु सभी उदारवादी राज्यों में कानूनन् न्यायिक क्षेत्र को सीमित बना दिया गया है। फलतः इसका व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि वर्तमान न्यायिक प्रक्रिया विलम्बकारी, व्ययसाध्य और जटिल हो गयी। अतः सामान्य व्यक्ति के लिए प्रायः न्याय मिलने की सभी आशायें

---

1. पित्ती, बी.बी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. : (सम्पादित) लोकसभा मे लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1974, भाग–6, पृ. 44

धूमिल हो गयी हैं। साथ ही, सरकार के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह न्यायिक चुनौतियों की बिन्दुओं से बचकर अपना आक्रामक रूप जारी रखे।

उदारवादी धारणा मे राज्य सत्ता पर द्वितीय नियन्त्रण विधायिकी-नियन्त्रण है। विधानसभा/संसद वह मंच होता है, जहाँ सरकार के कार्यों की औचित्यता पर प्रकाश डाला जाता है। व्यवस्थापिकायें जनइच्छा का प्रतीक होती है। अतः उनसे यह आशा की जाती है कि वे सरकार पर प्रतिबन्ध का कार्य करें तथा उन्हें जनहित की तरफ अग्रसर सकें। लोहिया ने कहा है : "लोकसभा या विधान सभा-एक शीशा है, एक आईना है, जिसमे जनता अपना चेहरे को देख सके। चेहरे पर किस वक्त कैसी सिकुड़नें हैं, कैसी आफतें हैं, कैसी तकलीफ हैं, कैसे अरमान हैं, क्या सपनें हैं, यह सब उस शीशें मे देख सकते हैं।"[1] किन्तु आधुनिक युग मे सरकार की व्यवस्थापिका के प्रति जवाब देही बिल्कुल नही रह गयी, जोकि विधायिकी नियन्त्रण का प्रमुख साधन है। "सरकार पर संसदीय अंकुश का प्रश्न भी संसदीय जनतन्त्र का सब देश, सब काल का प्रश्न है। अपने देश में तो ऐसा अंकुश है नहीं। अंकुश तो दूर जानकारी का अधिकार भी नहीं है।"[2] सरकार किसी भी मुद्दे पर कोई भी बहाना लेकर जवाबदेही के दायित्व से मुक्त हो जाती है। सरकार के इस प्रयास मे विधानसभा/लोकसभा के अध्यक्ष और सहायता करते हैं। "ये जितने भी अध्यक्ष हैं, उस शीशे को ढककर रखना चाहते हैं। ये उसे गदा हो जाने देना चाहते हैं, उसमे धब्बा लगा देना चाहते हैं।"[3] जिस प्रकार अदालत मे वादी, प्रतिवादी और जज होते हैं, उसी प्रकार विधानसभा/लोकसभा में अध्यक्ष, सरकारी पक्ष और विरोधी पक्ष होता है। अध्यक्ष का यह दायित्व होता है कि वह विधानसभा को कायदे और कानून से चलाते हुए विभिन्न मुद्दों पर बहस तथा वाद-विवाद का सभी पक्षों को पूरा मौका दे। किन्तु वह अपनी "जंगली-ताकत" का इस्तेमाल करता हुआ सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है।[4] अध्यक्ष को जहा यह लगता है कि विरोधी पक्ष द्वारा सरकार के जनहित विरोधी रूप को सामने लाने का प्रयास किया

---

1. लोहिया : पाकिस्तान में पलटनी शासन, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 12.
2. विनी. बी. वी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. : (सम्पादित) लोकसभा में लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1974, भाग-6, (कृष्णनाथ द्वारा प्रस्तावना, पृ. 61.
3. वही, 1973, भाग-3, पृ. 68.
4. संघर्ष, वर्ष 2, अंक-8, संख्या 57, 8 नवम्बर 1958, पृ. 6-7.

जायेगा, वही वह व्यवस्था का प्रश्न उठकर, विरोधी पक्ष को मौका न देकर, सरकार को बचा लेता है। अतः आज संसदीय नियन्त्रण केवलमात्र दिखावा रह गया है। प्रत्येक प्रश्न को नियम-अनियम के घेरे में डालकर अध्यक्ष व्यवस्थापिका को इस दायित्व से वंचित कर देता है। "आजकल विधानसभा और संसद तो ऐसी हो गयी हैं मानों वे बड़े घर की लडकियों को तहजीब सिखाने के लिए बनी हो कि यहा उठो, इस तरह बोलो, इस तरह लोगो का स्वागत करो, वगैरह।"[1] लोहिया ने माग की कि अध्यक्ष बहुत ही निर्भीक तथा स्वतन्त्र व्यक्ति होना चाहिए, अगर वह सत्तारूढ़ पार्टी का व्यक्ति हो तो बहुत ही ताकतवर होना चाहिए। ताकि "जरूरत पडने पर मंत्रियों को अगूठा दिखा सके न कि उनके अगूठे के नीचे दब जाये।"[2] किन्तु लोहिया ने यह स्वयं स्वीकार किया कि आधुनिक दल-प्रणाली मे यह कदापि संभव नही है कि अध्यक्ष दलीय राजनीति से ऊपर उठ जायेगा। अतः संसदीय नियन्त्रण की कोई सार्थकता नही रह गयी है।

सामयिक-नियमित चुनाव की व्यवस्था एक अन्य संस्थात्मक प्रतिबंध है। जिसके द्वारा जनता को एक बार फिर अपने शासको द्वारा दो चुनावो के मध्य के काल मे किये गये कार्यों का पुनः मूल्याकन करने का मौका मिलता है। चुनाव द्वारा जनता को यह विशेषाधिकार प्राप्त हो जाता है कि अगर सरकार उनके हित-वृद्धि की दृष्टि से नही चलती तो, वे उसे अपदस्थ करदें तथा अन्य लोगों को सरकार बनाने का मौका दिया जाये। किन्तु लोहिया के अनुसार, भारतीय जनता दुःख और जुल्म को सहने की आदि हो गयी है। अतः जब विधायक जनता के सामने जाता है, तो जनता बहुत ही सरल तरीके से उसकी बातों में आ जाती है। जब साधारण नागरिक अपने सामने मन्त्री को खड़ा देखता है तो उसकी सारी खीझ दूर हो जाती है और दुःख तथा परिवेदना मे जीना ही मंजूर कर लेता है। लोहिया ने कहा: "हिन्दुस्तान का साधारण आदमी जुल्म का आदि हो गया है। इसलिए यदि कोई उससे मीठी बात कर लेता है तो भी वह समझता है कि हमसे भले मुंह बात की, *यही क्या कम है।*"[3] *अतः ऐसी भाग्यवादी स्थिति मे चुनाव को राज्य-सत्ता* पर अकुश के रूप मे मानना गलत होगा।

---

1. लोहिया : अन्न समस्या, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 25.
2. लोहिया : देश-विदेश नीति : कुछ पहलू, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1970, पृ. 103-4.
3. पित्ती, बी.बी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, अ.पी. : (सम्पादित), लोकसभा में लोहिया; हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1973, भाग-4, पृ.

लोहिया का कहना है कि साक्ष्य और अपराधिक-प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों में इस प्रकार के परिवर्तन होने चाहिये कि जिससे सामान्य नागरिक को शीघ्र और सस्ता न्याय मिल सके। इसके अतिरिक्त वर्तमान कानूनों पर पुनर्विचार करने के लिए एक समिति निर्मित की जाये, जिससे कानूनों से अप्रजातांत्रिक तत्वों को हटाया जा सके। न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियन्त्रण से बाहर रखा जाये। केन्द्र तथा प्रान्तों के सम्बन्धों का जिक्र करते हुए लोहिया ने व्यवस्था दी कि राज्यपाल के पद को खत्म कर दिया जाये तथा केन्द्र और प्रान्त में कम से कम सम्बन्ध होने चाहिए। दो या तीन राज्यों के लिए एक उच्च न्यायालय और एक लोकसेवा आयोग हो, जिससे उनकी संख्या घटायी जा सके और उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया सके।[1]

संस्थात्मक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त लोहिया ने चौखम्भा राज्य पर व्यावहारिक प्रतिबन्ध के रूप में सिविल-नाफरमानी को मान्यता दी। लोहिया का मानना था कि सिविल-नाफरमानी राज्य सत्ता पर एक प्रभावशाली नियन्त्रण का काम करती है। राज्य सत्ता द्वारा अत्याचार इसलिए होता है कि लोग उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देते हैं। जिस दिन लोग अत्याचार-युक्त राज्य सत्ता के विरुद्ध सविनय अवज्ञा करना सीख जायेंगे, उस दिन अत्याचार युक्त व्यवस्था खत्म हो जायेगी। जन-जागृति–जो कि राज्य सत्ता पर स्वयं एक सीमा के रूप में सामने आती है–आयेगी तो व्यक्ति में दोषमुक्त व्यवस्था का विरोध करने की क्षमता आती है। सिविल-नाफरमानी एक ऐसा हथियार है, जिससे सरकार को बाध्य किया जा सकता है कि वह जनता के अधिकारों को मान लें। जहां तक सविनय-अवज्ञा करने वाले तथा सरकार का आपसी सम्बन्ध का प्रश्न है, सरकार को केवल सविनय-प्रतिकारियों को गिरफ्तार करने का अधिकार होना चाहिए। प्रतिकारियों को शारीरिक दण्ड तथा मार डालने का सरकार को कोई अधिकार नहीं है। लोहिया का कहना था कि अगर अनुचित ध्येय को लेकर गलत तरीके से भी सिविल-नाफरमानी की जाती है तो उससे राज्य-सत्ता को नहीं बल्कि करने वालों को ही नुकसान पहुंचता है।

लोहिया के अनुसार चूंकि सिविल-नाफरमानी राज्य-सत्ता पर एक सीमा या प्रतिबन्ध का काम करती है, अतः सरकार का सिविल-नाफरमानी करने वालों के प्रति नाराज होना स्वाभाविक है तथा सरकार दमन का सहारा भी ले सकती है। किन्तु जनता को अपने रास्ते पर डटे रहना चाहिए। उनमें

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 410.

परम्परागत संस्थात्मक नियन्त्रण राज्य सत्ता पर सार्थक प्रतिबन्ध सिद्ध नही हो सकते। न्यायिक-अवलोकन तथा संसदीय नियन्त्रण राज्य-सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध ग्राम-नागरिक को सुरक्षा प्रदान नही कर सकते। अतः एक नयी व्यवस्था की आवश्यकता होती है, जिससे राज्य-सत्ता के अतिक्रमण से व्यक्ति को बचाया जा सके। लोहिया ने संस्थात्मक प्रतिबन्ध के रूप मे शक्तियों के वितरण को सबसे प्रमुख माना। यही धारणा उनकी चौखम्भा राज्य-योजना के रूप मे प्रकट हुयी। अतः यहां प्रश्न उठता है कि क्या लोहिया चौखम्भ-राज्य पर भी कुछ सीमायें या प्रतिबन्ध स्वीकार करता है। हां, लोहिया ने चौखम्भा राज्य पर कुछ प्रतिबंधों को स्वीकार किया, ताकि उसके अन्तिम लक्ष्य-व्यक्ति तथा समुदाय की पूर्णता को बनाये रखा जा सके। प्रशासनिक दृष्टि से जिलाधीश का पद समाप्त कर दिया जाये। लोहिया ने लिखा है: "कलेक्टर तो बहुत खराब संस्था है। आजाद देश मे इसकी कोई जरूरत नही है...... ....कलेक्टर का पद खत्म करके उसे म्युनिसिपल बोर्ड के मातहत किया जाये।"[1] जिन प्रशासनिक स्तर के प्रशिक्षण और अनुभव से वर्तमान जिलाधीश को प्रशिक्षित किया जाता है, उन्ही के द्वारा कार्यकारी अधिकारियो को प्रशिक्षित कर मण्डलीय सरकार के सहयोग के लिए प्रदान किये जाने चाहिये। ये कार्यकारी अधिकारी मण्डलीय सरकार के अधीन कार्य करें। किन्तु राजनीतिज्ञ और प्रशासक के रिश्ते ईमानदारीपूर्ण होने चाहिये। अगर उनके मध्य सम्बन्ध पक्षपात और मनमानी का हो गया तो राज्य का उद्देश्य ही खत्म हो जायेगा।[2] विधायिकी दृष्टि से लोहिया ने कहा, मण्डलीय एवं अन्य स्थानीय पंचायतों को व्यवस्थापन के अधिकार दिये जायें, ताकि वे अपनी इच्छानुसार जीवन-निर्वाह की पद्धति को चुन सकें। विधानसभा/संसद के उच्च सदन का अन्त कर देना चाहिए। लोहिया का मानना था कि उच्च सदन मे पराजित व्यक्तियो को स्थान दिया जाता है। अतः वे सही जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व नही कर सकते। उनका मत था कि सम्पूर्ण कार्यों का उद्देश्य जनता की इच्छा को संगठित और अभिव्यक्त करना तथा राष्ट्रीय जीवन का पुनः निर्माण होना चाहिए। जबकि पराजित उम्मीदवार इस उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहते हैं। जहां तक न्यायिक व्यवस्था का प्रश्न है,

---

1. संघर्ष, वर्ष 17, संख्या 39, 30 नवम्बर, 1953, पृ. 7.
2. पित्ती, बी. बी. त्रिपाठी, ए तथा निर्मल, ओ. पी : (सम्पादित), लोकसभा मे लोहिया, हैदराबाद: राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1973, भाग-3, पृ. 86

लोहिया का कहना है कि साक्ष्य और अपराधिक-प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों में इस प्रकार के परिवर्तन होने चाहिये कि जिससे सामान्य नागरिक को शीघ्र और सस्ता न्याय मिल सके। इसके अतिरिक्त वर्तमान कानूनों पर पुनर्विचार करने के लिए एक समिति निर्मित की जाये, जिससे कानूनों से अप्रजातान्त्रिक तत्वों को हटाया जा सके। न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियन्त्रण से बाहर रखा जाये। केन्द्र तथा प्रान्तो के सम्बन्धो का जिक्र करते हुए लोहिया ने व्यवस्था दी कि राज्यपाल के पद को खत्म कर दिया जाये तथा केन्द्र और प्रान्त में कम से कम सम्बन्ध होने चाहिए। दो या तीन राज्यों के लिए एक उच्च न्यायालय और एक लोकसेवा आयोग हो, जिससे उनकी संख्या घटायी जा सके और उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया सके।[1]

संस्थात्मक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त लोहिया ने चौखम्भा राज्य पर व्यावहारिक प्रतिबन्ध के रूप में सिविल-नाफरमानी को मान्यता दी। लोहिया का मानना था कि सिविल-नाफरमानी राज्य सत्ता पर एक प्रभावशाली नियन्त्रण का काम करती है। राज्य सत्ता द्वारा अत्याचार इसलिए होता है कि लोग उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देते हैं। जिस दिन लोग अत्याचार-युक्त राज्य सत्ता के विरुद्ध सविनय अवज्ञा करना सीख जायेंगे, उस दिन अत्याचार युक्त व्यवस्था खत्म हो जायेगी। जन-जागृति—जो कि राज्य सत्ता पर स्वयं एक सीमा के रूप में सामने आती है—आयेगी तो व्यक्ति में दोषमुक्त व्यवस्था का विरोध करने की क्षमता आती है। सिविल-नाफरमानी एक ऐसा हथियार है, जिससे सरकार को बाध्य किया जा सकता है कि वह जनता के अधिकारों को मान लें। जहां तक सविनय-अवज्ञा करने वाले तथा सरकार का आपसी सम्बन्ध का प्रश्न है, सरकार को केवल सविनय-प्रतिकारियों को गिरफ्तार करने का अधिकार होना चाहिए। प्रतिकारियों को शारीरिक दण्ड तथा मार डालने का सरकार को कोई अधिकार नहीं है। लोहिया का कहना था कि अगर अनुचित ध्येय को लेकर गलत तरीके से भी सिविल-नाफरमानी की जाती है तो उससे राज्य-सत्ता को नहीं बल्कि करने वालों को ही नुकसान पहुंचता है।

लोहिया के अनुसार चूंकि सिविल-नाफरमानी राज्य-सत्ता पर एक सीमा या प्रतिबन्ध का काम करती है, अतः सरकार का सिविल-नाफरमानी करने वालों के प्रति नाराज होना स्वाभाविक है तथा सरकार दमन का सहारा भी ले सकती है। किन्तु जनता को अपने रास्ते पर डटे रहना चाहिए। उनमें

---

1. लोहिया : मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 410.

इतनी ताकत आ जाये कि वे कह सके, "मारो अगर मार सकते हो, लेकिन हम तो अपने हक पर डटे रहेंगे।"[1] लोहिया का आग्रह था कि सप्ताह के सातों दिनों में प्रत्येक राजनीतिक दल को कम से कम दो-दो दिन सत्याग्रह करना चाहिये। "जिस तरह किसी दौड़ में एक थकता है तो दूसरा आता है और फिर तीसरा आता है, कुछ रिले रेस जैसी होती है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान में सत्याग्रह और सविनय-अवज्ञा की रिले-रेस होनी चाहिये। केवल तभी अन्यायी शासन, चाहे वह किसी भी दल का हो समाप्त हो सकेगा।"[2]

लोहिया के अनुसार सिविल-नाफरमानी का सिद्धान्त राज्य सत्ता पर सीमा के रूप मे होने के कारण उसके मूल्यांकन का आधार सफलता-असफलता से नही होना चाहिए। इसकी उपलब्धि केवल इसी मे है कि यह जनता में एक ऐसी भावना जागृत कर दे, जो राज्य की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध का काम कर सके। लोहिया के शब्दो में, "अगर सिविल-नाफरमानी करने वाले लोगों के काम के नतीजे से हिन्दुस्तान के करोड़ो लोगों के दिल से कमजोरी और डरपोकपन दूर हो जाता है तो सिविल-नाफरमानी कामयाब समझी जायेगी। इस चीज को बिल्कुल साफ तरीके से समझना चाहिए।"[3]

यद्यपि सिविल-नाफरमानी का प्रयोग सुकरात, प्रहलाद, मीरा आदि ने किया। किन्तु सविनय-अवज्ञा की दृष्टि से दो सीमायें रही। प्रथम, ये सभी सविनय अवज्ञा के व्यक्तिगत प्रयास थे। इनका उद्देश्य राज्य-सत्ता द्वारा अपने स्वयं पर किये गये अन्यायो का विरोध करना था। अतः इन सभी मे सामाजिक अन्याय का पक्ष गौण रहा। दूसरे शब्दों मे, इनका उतना सामाजिक महत्व नही था, जितना सामूहिक सविनय-अवज्ञा का होता है। द्वितीय, सविनय-अवज्ञा के प्रयत्न राज्य-सत्ता के विरुद्ध केवल अभिजन-वर्ग-बड़े व्यक्तियो और राजकुमारों-तक ही सीमित थे। जन-साधारण से इन प्रयासों का कोई सम्बन्ध नही था। यहा लोहिया गांधी की यह देन मानते हैं कि उन्होने सविनय अवज्ञा को एक तरफ सामाजिक आधार पर प्रयोग किया तो दूसरी तरफ उसे जन-साधारण का विषय बनाया। किन्तु जैसाकि पहले अध्याय मे विस्तृत रूप से विवेचन कर चुके हैं, गांधी की इस धारणा मे दैविक तथा पराभौतिक तत्वो को प्रमुख स्थान मिलता है, जबकि लोहिया ने अवधारणा

1. लोहिया : सिविल नाफरमानी : सिद्धान्त और अमल, हैदराबाद : नवहिन्द, 1957, पृ. 8.
2. वही,
3. वही,

के रूप में इस मान्यता को गांधी से लिया, किन्तु इसको पारलौकिक तत्वो से दूर निरपेक्ष आधार पर प्रयोग किया।

इस प्रकार लोहिया ने राज्य संरचना की ऐसी योजना रखी, जिसमे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की पूर्णता प्राप्त हो सकेगी। लोहिया ने माना कि राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण द्वारा यह सम्भव हो पायेगा कि लघु इकाई के रूप मे व्यक्ति की अधिकतम हितवृद्धि हो। किन्तु उन्होने राष्ट्रीय पूर्णता को ध्यान में रखते हुए अपनी राज्य-धारणा में पांचवें खम्भे के रूप में विश्व संसद के गठन का भी प्रारूप रखा। हालांकि लोहिया ने चौखम्भा राज्य-व्यवस्था में प्रत्येक स्तर पर–गांव, मंडल, प्रान्त तथा केन्द्र–राज्य शक्ति प्रयोग का वैधानिक रूप से व्यापक आधार सुझाये हैं। किन्तु फिर भी राज्य सत्ता द्वारा किसी प्रकार के अतिक्रमण के विरुद्ध उन्होने चौखम्भा राज्य पर संस्थात्मक तथा व्यावहारिक प्रतिबन्धो को भी निर्देशित किया है, ताकि राज्य-सत्ता किसी भी रूप में अपनी शक्ति का अतिक्रमण न कर सके। अगले अध्याय में लोहिया द्वारा प्रस्तुत समानता तथा स्वतन्त्रता के पारस्परिक संबंध तथा राज्य सत्ता को इन दोनो के सह-अस्तित्व को बनाये रखते हेतु किस सीमा तक हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण का अधिकार प्रदान करते हैं, को देखने का प्रयास करेंगे।

———

समानता तथा स्वतंत्रता : एक सतुंलन की स्थापना

1. समानता

लोहिया की समाजवादी व्यवस्था के संस्थात्मक प्रारूप–राजनीतिक संरचना–के खाके को पिछले अध्याय के अन्तर्गत देखा। प्रस्तुत अध्याय मे उसके मूल्यो के एक पक्ष–समानता तथा स्वतन्त्रता के सह-अस्तित्व–पर दृष्टि डालने की कोशिश करेंगे। इन मूल्यों का महत्व इसी में है कि ये सम्पूर्ण व्यवस्था की आधार रेखायें तैयार करते हैं, जिन पर चलकर भारतीय समाजवादी व्यवस्था विकसित हो सकती है, क्योकि इन मूल्यो का सम्बन्ध व्यक्ति के प्रत्येक-व्यक्तिगत, सामाजिक, दार्शनिक एवं कार्यात्मक–पक्ष से जुड़ा होता है। लोहिया ने लिखा है, "दिन-प्रतिदिन के जीवन, सम्पत्ति तथा आमदनी और समाज की सामान्य व्यवस्था पर इनके प्रत्येक और तात्कालिक परिणाम गहरे तथा अनेक होते हैं।"[1]

लोहिया का अपनी समाजवादी व्यवस्था के घेरे मे समानता की ऐसी संरचना प्रस्तुत करने का प्रयास रहा, जिसमें लघु इकाई के पूर्ण के रूप मे व्यक्ति को तथा वृहद् समुदाय के पूर्ण के रूप में राष्ट्र को सम्पूर्ण समानता की प्राप्ति सम्भव हो सके। अत: जिस प्रकार व्यक्ति को परिवार में भाईचारेयुक्त सम्पूर्ण समानता की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार की भावनाओं को विश्व स्तर पर विकसित किया जाये। जिसमे राष्ट्र के अन्दर ही नही, बल्कि राष्ट्रों के अन्दर भी समानता की प्राप्ति हो सके।

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 222.

लोहिया के अनुसार परिवार मे जिस तरह का भाईचारा होता है, वह करीब-करीब सम्पूर्ण भौतिक समानता पर आधारित होता है। परिवार मे सभी व्यक्तियो की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति समान रूप से होती है। चाहे उनकी आमदनी कुछ भी हो या बूढे या बच्चो की तरह कुछ भी न कमायें। दूसरे शब्दों में, परिवार मे व्यक्ति को पूर्ण समानता मिलती है। "माता-पिता और बच्चों, पति और पत्नी, भाई और बहिनों·········के बीच करीब-करीब सम्पूर्ण एकता और सम्पूर्ण समानता आवश्यक होती है। इसमे करीब-करीब सम्पूर्ण समर्पण और त्याग सम्भव हो पाता है।"[1] लोहिया के अनुसार इस पारिवारिक भाईचारे की भावात्मक समानता को विश्व स्तर पर विकसित किया जाये, ताकि सम्पूर्ण मानव जाति की, एक समुदाय के रूप मे, समानता सम्भव हो सके। लोहिया ने लिखा है, "व्यक्तिगत 'स्व' का इतना विस्तार किया जाये या इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्व को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाये, साधनों से सम्बन्धित प्रश्न गौण है। मुख्य बात तो है सृष्टि के साथ एकात्म होने का आनन्द। उसकी हर चीज के साथ समानता अनुभव करने का सुख। इस तरह का आध्यात्मिक और भावात्मक भाईचारा जीवन के महान् लक्ष्य के रूप मे समानता की विशेषता है।"[2] किन्तु लोहिया के अनुसार आधुनिक व्यवस्थाओं—उदारवादी तथा मार्क्सवादी-के परिणामो के फलस्वरूप पारिवारिक समता का आदर्श सम्पूर्ण मानव जाति तक विकसित नही हो पाया है। लोहिया के शब्दो मे : "इस भाईचारे को सम्पूर्ण मानव कुटुम्ब तक फैलाने की कोशिश अभी तक सफल नहीं हुयी है। वह हमेशा स्वार्थ की चट्टान से टकराकर बिखर गयी है। यह स्वार्थ अपने-अपने परिवार के दायरे में तो उदार होता है, लेकिन मानव-कुटुम्ब की विशालता के आगे संकीर्ण हो जाता है।"[3] यह आदर्श आज असम्भव बना हुआ है, इसके मुख्यत: लोहिया ने दो प्रमुख कारण माने हैं :—

प्रथम, लोहिया के अनुसार आज पारिवारिक समता का आदर्श सपूर्ण मानवता के लिए असम्भव बनने का प्रमुख कारण भौतिक गैर बराबरी का होना है, जो कि आधुनिक व्यवस्थाओ की देन है। राष्ट्रों के बीच और राष्ट्र के अन्दर भौतिक असमानता इतनी व्यापक है कि वह व्यक्तियों के सामर्थ्य से बाहर हो गयी है। अतः व्यक्ति इसके दबावों को बर्दाश्त करने मे असफल

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 224.
2. वही,
3. वही,

रहता है। फलतः अपने आप को इसके अनुरूप बदल लेता है अर्थात् व्यक्ति असमानता की स्थिति से समझौता कर लेता है। पिछड़े हुए देशों की अथाह दरिद्रता और दुःख के बीच जनता विश्व-व्यापी भाईचारे के दबावों को कैसे बर्दाश्त कर सकती है। इसी तरह विकसित देशो के गोरे और रंगीन लोगों के बीच असमानता इतनी ज्यादा है कि मानवजाति के भाईचारे की बात करना हास्यास्पद है। यूरोपवासियो में एशिया के लोगो के प्रति विषमता का विचार किस मात्रा तक पूर्वाग्रह के रूप में जकड़ा है, इसका उदाहरण देते हुए, लोहिया ने लिखा है : "किसी भी यूरोपीय को सम्भवतः इस विचारमात्र से धक्का लगेगा कि कोई दूसरा यूरोपीय उसे रिक्शे मे बिठाकर खींचे। लेकिन वही यूरोपीय किसी एशियायी द्वारा खीचे जाने वाले रिक्शे पर चढ़ने के पहले थोडा भी नहीं झिझकेगा।"[1] दो ऐसी व्यवस्थाओं के मध्य जहां मूल आवश्यकताओं की पूर्ति की मात्रा मे बहुत गहरा अन्तर हो, वहां उनके बीच किसी प्रकार का कोई भाईचारा संभव नही है। लोहिया के अनुसार वहां राष्ट्रों के मध्य सामीप्य एवं भाईचारे की बात नैतिक अनुरोध ही हो सकती है।

जहा तक राष्ट्र के भीतर आपसी सामीप्य/समानता का प्रश्न है, यहां अभिमान तथा आहृत राष्ट्रीयता की भावनायें सक्रिय होती हैं। किसी कोढी, भिखारी, फटेहाल या बिल्कुल कमजोर आदमी को देखकर उसी देश के "अधिक भाग्यशाली" व्यक्ति के मन में कोई सामीप्य या भाईचारे की भावना नही जगती, बल्कि उसके स्थान पर उसे देखकर उसके अभिमान को ठेस पहुंचती है। "यद्यपि इस संदर्भ मे कुछ न कुछ करने की इच्छा जरूर जगती है, किन्तु वह व्यक्ति इतना घृणित और नितान्त स्वार्थी हो गया है कि इस तरह की हालत पर उसे कोई शर्म ही महसूस नही होती।"[2]

लोहिया के अनुसार आजतक मानव एकता हेतु थोडा-बहुत प्रयास भी किया तो वह बिना किसी ठोस एवं गत्यात्मक कार्यक्रम दिये, एक नैतिक-अनुरोध तक ही सीमित रहा। अतः राष्ट्र के अन्दर तथा राष्ट्रों के मध्य भाईचारे की भावना को नैतिक अनुरोध की अपेक्षा वास्तविक रूप में बदलना है तो भौतिक समानता युक्त समाजवादी व्यवस्था अपनाना होगा। भौतिक समानता से लोहिया का तात्पर्य राष्ट्र के भीतर आन्तरिक सामीप्य के साथ-

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 225.
2. वही,

साथ राष्ट्रो के बीच बाह्य सामीप्यता से है। दूसरे शब्दो मे सम्पत्ति, जमीन तथा आय में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की आय मे बहुत कम अन्तर हो, तभी निकट समीप्य बन्धन तथा समानता पनप सके। लोहिया के शब्दो में : "भाईचारे की भावना, कम से कम उसकी पूर्ण सम्भावनाओ की सीमा तक, भौतिक समानता के बिना असम्भव है। ' — किसी भी हालत मे अपने जैसे दूसरे मनुष्यों के साथ भावात्मक भाईचारा, यदि उसकी जड़ें भौतिक समानता मे नही है तो, असम्भव है।"[1] यही पर हम अरविन्द और लोहिया में तात्विक अन्तर देखते हैं। लोहिया की भाति अरविंद भी मानव एकता तथा भ्रातृत्व का पुजारी है, किन्तु लोहिया से भिन्न इसके लिए उन्होने भौतिक समानता को आवश्यक नही माना। उनके अनुसार "यह भ्रातृभाव भौतिक सम्बन्ध या प्राणिक सहयोग अथवा बौद्धिक समझौते की की वस्तु नही है।"[2] इस एकता तथा सामीप्य हेतु अरविन्द का आध्यात्मिक एवं नैतिक आग्रह प्रमुख था।

द्वितीय, सम्पूर्ण मानव-जाति के मध्य रक्त सम्बन्धता के अभाव का एक अन्य कारण यह भी रहा कि हमारे सोचने का ढग एक पक्षीय रहा। कहीं समानता का अर्थ भोजन, आवास एवं वस्त्र पूर्ति रहा तो कहीं शिक्षा, चिकित्सा आदि की न्यूनतम पूर्ति को आदर्श बनाया गया। अतः प्रत्येक देश किसी एक पक्ष को लेकर समानता-युक्त व्यवस्था का दावा प्रस्तुत करने लगा। इस प्रकार समानता का मापदण्ड या कसौटी क्या हो, इस बारे में मतभेद पैदा कर दिया गया। उदाहरण के लिए, भारतवासियो के लिए ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज की शिक्षा विशिष्ट अभिजात्य वर्ग की शिक्षा होती है, जबकि वास्तव मे इन विश्वविद्यालयों में अस्सी प्रतिशत यूरोपीय छात्र-छात्रायें साधारण व्यक्तियों के लडके-लडकियां होते हैं। सोवियत रूस चिकित्सा और प्राथमिक शिक्षा मे, पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका से बहुत आगे है, जबकि पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका न्यूनतम भोजन एवं वस्त्र के मामले में सबसे ऊपर है। इगलैण्ड आज भी शिक्षा के क्षेत्र अमेरिका से बहुत आगे बढा हुआ है, जबकि अमेरिका भौतिक सम्पन्नता मे बढ़ाचढा है। अतः प्रश्न उठता है कि समानता का आधार क्या हो ? एक देश तथा दूसरे देश या एक व्यक्ति तथा

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 225.
2. श्री अरविंद : मानव ऐक्य का आदर्श, पांडिचेरी : श्री अरविंद सोसायटी, 1969, पृ. 317.

दूसरे व्यक्ति में समानता का आधार एवं मापदण्ड क्या हो ? एक देश एक आधार पर दूसरे से नीचे है तो, दूसरे क्षेत्र में उससे बहुत ऊंचा। लोहिया के अनुसार, सम्पूर्ण मानव-जाति मे पूर्ण भावात्मक समानता तभी पनप सकती है, जबकि समानता के इन विभिन्न पहलुओं को एक साथ स्वीकार किया जाये।

व्यक्ति की पारिवारिक समानता तथा एकता को सम्पूर्ण मानवजाति तक विस्तृत करने का लोहिया का आदर्श, उसकी समाजवादी व्यवस्था की सम्पूर्ण बराबरी का आदर्श है। जैसाकि पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है, सम्पूर्ण समानता से लोहिया का तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है, जिसमे सभी व्यक्ति बिना किसी पूर्वाग्रह के समान होगे। यह आदर्श "एक वातावरण, एक भावना और शायद यह इच्छा हो सकती है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच की सभी व्यवस्थायें–आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक–समान हो।"[1] सम्पूर्ण समानता का लोहिया का आदर्श निम्न मान्यताओ मे प्रकट हुआ :—

1. कानून के स मने संपूर्ण समानता।

2. सम्पूर्ण राजनीतिक समानता, अर्थात् सामाजिक एवं आर्थिक किसी भी आधार पर मताधिकार के अधिकार को प्रतिबन्धित नही करना चाहिये।

3. संपूर्ण सामाजिक समानता, अर्थात् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पदसोपानीय मान्यता पर फैली जाति-प्रथा का अन्त।

4. संपूर्ण आर्थिक समानता, अर्थात् न्यूनतम भोजन, वस्त्र एवं आवास की पूर्ति तथा बच्चो, बेरोजगारों एवं वृद्धो को पेंशन आदि की व्यवस्था।

परन्तु विभिन्न तात्कालिक कारणो के फलस्वरूप सम्पूर्ण समानता का आदर्श एक सपना बना हुआ है तथा व्यावहारिक रूप से एक साथ सम्पूर्ण बराबरी युक्त व्यवस्था का सृजन करना असंभव है। अतः लोहिया ने कहा कि सम्पूर्ण समानतायुक्त समाजवादी व्यवस्था का सपना पूरा नही हो पाता, तब तक हमें "संभव बराबरी" को आदर्श बनाना चाहिए। संभव समानता से लोहिया का तात्पर्य 'देशकाल की अवस्था को जांच करके, जितनी बराबरी जिस

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 227.

समय संभव हो, उसे ही तात्कालिक लक्ष्य बनाना आवश्यक है।"[1] देशकाल की परिस्थितियों को अनदेखा करते हुए यदि संभवता से अधिक बराबरी का लक्ष्य बनाया गया तो वह आदर्शवादी पागलपन होगा और उससे कम को लक्ष्य माना गया तो वह यथास्थितिवाद का समर्थन होगा।

लोहिया ने भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए सम्पूर्ण समता के संभव रूपों का एक ग्यारह सूत्री कार्यक्रम रखा है, वह निम्न प्रकार है :[2]

1. सभी प्राथमिक शिक्षा समान स्तर तथा एक ढंग की और स्कूल का खर्चा तथा अध्यापकों की तनख्वाह एक जैसी हो। प्राथमिक शिक्षा के सभी विशेष स्कूल बन्द कर दिये जायें।

2. अलाभकर जोतों से लगान अथवा मालगुजारी खत्म हो। संभव है कि इसका नतीजा हो सभी जमीन कर अथवा लगान का खात्मा और खेतिहर आयकर की शुरुआत।

3. पांच या सात वर्ष की ऐसी योजना बनाना जिससे सभी खेतों को सिंचाई का पानी मिले। चाहे वह पानी मुफ्त मिले अथवा किसी ऐसी दर पर या कर्ज पर कि जिससे हर किसान अपने खेत के लिए पानी ले सके।

4. अंग्रेजी भाषा का माध्यम सार्वजनिक जीवन के हर अंग से हटे।

5. हजार रुपये महीना से ज्यादा खर्चा कोई व्यक्ति न कर सके।

6. अगले बीस वर्षों के लिए रेलगाड़ियों में मुसाफिरी के लिए सिर्फ एक दरजा हो।

7. अगले बीस वर्षों के लिए मोटर कारखानों की कुल क्षमता बस, मशीन-हल अथवा टैक्सी बनाने के लिए इस्तेमाल हो और कोई निजी इस्तेमाल की गाड़ी न बने।

8. एक ही फसल के दाम का उतार-चढ़ाव बीस प्रतिशत के अन्दर हो और जरूरी इस्तेमाल की उद्योगी चीजों के बिक्री दाम लागत खर्च के डेढ़ गुने से ज्यादा न हों।

---

1. लोहिया : "सम्पूर्ण और संभव बराबरी" चौखम्भा, वर्ष 1, अंक 6, 16 नवम्बर, 1957, पृ. 8.
2. लोहिया : "समता और सम्पन्नता", जन, वर्ष-3, अंक-3, अप्रेल 1966, पृ 7-8.

9. पिछड़े समूहों यानी आदिवासी, हरिजन, औरतें, हिन्दू तथा अहिन्दुओं की पिछड़ी जातियो को साठ प्रतिशत का विशेष अवसर मिले। जाहिर है कि यह विशेष अवसर ऐसे धन्धो पर नही लागू होता, जिनमे खास हुनर की जरूरत है, जैसे चीर-फाड़, किन्तु थानेदारी अथवा विधायकी ऐसे धन्धो मे नही गिने जा सकते।

10. दो मकानों से ज्यादा मकानी मल्कियत का राष्ट्रीयकरण।

11. जमीन का असरदार बंटवारा और उसके दामो पर नियन्त्रण।

यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि लोहिया का अन्तिम आदर्श सम्पूर्ण बराबरी ही रहा। इसी कारण उन्होने कहा कि हमें संभव बराबरी के आदर्श को स्थायी एव शाश्वत सिद्धान्त नही बना लेने चाहिए। "नहीं तो दिमाग यथास्थिति का समर्थक हो जायेगा। दिमाग के अंधविश्वासी होने और पिटी हुई लकीर पर चलने के कारण परिस्थितियो के अनुसार उसे मोड़ना कठिन होगा।"[1] लोहिया के अनुसार सम्पूर्ण बराबरी के आदर्श को ध्यान मे रखते हुए संभव बराबरी का घेरा समय समय पर बढाते रहना चाहिए ताकि हम सम्पूर्ण बराबरी को प्राप्त कर सकें। "समाजवाद से एक सीढी नीचे उतरो, उस सीढ़ी का नाम है बराबरी। उस बराबरी से एक सीढ़ी और नीचे उतरो, आर्थिक बराबरी, सामाजिक बराबरी, राजनीतिक बराबरी, धार्मिक बराबरी, उससे एक सीढी और नीचे उतरो……… …तब उसके बाद आयेगी समता, सम्पूर्ण समता।"[2] इस प्रकार लोहिया ने सम्पूर्ण बराबरी की ओर बढ़ती हुयी संभव बराबरी का आदर्श रखा, जबकि अन्य भारतीय समाजवादी, नरेन्द्र देव[3] तथा जयप्रकाश[4] ने योग्यतानुसार आमदनी का आदर्श रखा। योग्यतानुसार आमदनी में असमता अन्तर्निहित रूप से छुपी रहती है।

संभव समानता को सम्पूर्ण समानता की ओर अग्रसर करने के लिए लोहिया ने तीन तरीके—बाध्यता, अनुनय-विनय और निजी-उदाहरण—सुझाये हैं। इस संदर्भ मे लोहिया का कहना है कि हरेक साधन की अपनी-

---

1. लोहिया : मार्क्स, गाँधी एंड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 230.
2. लोकसभा डिबेट्स, भाग-39, 1965, पृ. 4613-14.
3. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2006, पृ 415.
4. नारायण, जयप्रकाश : समाजवाद, सर्वोदय और लोकतन्त्र, पटना, 1973, पृ. 153.

अपनी सीमायें हैं। उन्होंने निजी-उदाहरण का तरीका सबसे प्रभावशाली माना है, क्योंकि इसका प्रयोग छोटे-बड़े हर मुद्दे पर किया जा सकता है तथा इसके द्वारा व्यक्ति दूसरों के सामने स्वयं का निजी आदर्श रखता है, जो कि प्रभावक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण होता है। अनुनय-विनय का तरीका वही अपनाया जा सकता है, जहां सामने वाला तार्किक दृष्टिकोण अपनाने के लिए तैयार हो। पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण अपनाने वालों के सामने—चाहे वह पूर्वाग्रह किसी निजी स्वार्थ के कारण हो या किसी विचारधारा के आधार पर—अनुनय-विनय का तरीका सार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी दृष्टि में उनका स्वयं का निर्णय ही सही होता है। जहा तक बाध्यात्मक तरीके का प्रश्न है, लोहिया ने इसका क्षेत्र तुलनात्मक रूप से सीमित माना है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि लोहिया का बाध्यता से तात्पर्य केवलमात्र कानूनी बाध्यतासे ही है। हालांकि कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगाकर हम सभव समानता से सम्पूर्ण समानता की तरफ बढ सकते हैं, किन्तु इसके फलस्वरूप कृत्रिम भययुक्त व्यवस्था का जन्म होगा, जो कि जनता के स्वाभाविक जीवन का अंग नहीं हो सकती। अतः इसके द्वारा दूरगामी लक्ष्य प्राप्ति पर हमेशा प्रश्न चिन्ह लगा रहता है। यहां हम लोहिया की स्थिति तथा समानता की पश्चिमी मान्यता में अन्तर देखते हैं। पश्चिमी समानता की अवधारणा मे, उसे प्राप्ति हेतु केवलमात्र राज्य द्वारा साधन-संरचना ही प्रमुख मानी जाती है अर्थात् वहा कानून की बाध्यता पर अधिक बल दिया जाता है, जबकि लोहिया के अनुसार कानून द्वारा बाध्यता का दायरा बहुत सकीर्ण है।

2. स्वतन्त्रता

अवधारणा के रूप मे स्वतन्त्रता का तात्पर्य उन प्रावधानों की स्वीकृति से है, जिन पर चलकर व्यक्ति की पूर्णता की अभिव्यक्ति सभव हो सकती है। "इसके क्रियात्मक आदेश से समायोजन करने के लिए राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसके सदस्य, केवल स्वतन्त्र अभिकर्ता हो।"[1] किन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ सामाजिक स्वतन्त्रता भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। अन्यथा एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्ति की अधीनता होगी। अगर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का निरपेक्ष रूप से प्रयोग करता है तो वहां अन्य सभी लोगों की स्वतन्त्रता—सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होगी। अतः व्यक्ति

---

1. बार्कर, अर्नेस्ट : सामाजिक तथा राजनैतिक शास्त्र के सिद्धान्त, (अनूदित) चण्डीगढ़ : हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, 1972, पृ. 167.

अपनी स्वतन्त्रता प्रयोग के लिए जिन परिस्थितियों को चाहता है, आवश्यक है कि वह उनको अन्य व्यक्तियों को भी समान रूप से प्रदान करें। स्पष्ट है कि सामाजिक स्वतन्त्रता पारस्परिक अन्तर्निर्भरता की स्थिति में पायी जाती है।[1] यहां यह उल्लेखनीय होगा कि सामाजिक स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर सीमा या प्रतिबन्ध नहीं है वरन् यह तो वृहद् पूर्णता की प्राप्ति है, जिसमें समाज की स्वतन्त्रता के साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी बनी रहती है। जहां तक राजनीतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य है, वह नागरिकों को सरकार से, सम्बन्धित पक्षों में मिली स्वतन्त्रता से है। साथ ही आधुनिक युग में राजनीतिक स्वतन्त्रता में आर्थिक स्वतन्त्रता—आवश्यकताओं से स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय आदि—को भी सम्मिलित कर लिया गया है। लोहिया की व्यवस्था में स्वतन्त्रता की अवधारणा एक ऐसी परिकल्पना के रूप में सामने आती है, जहां उनका हर संभव यह प्रयास रहा कि व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को अपनी आत्म-अभिव्यक्ति की प्राप्ति हेतु पूर्ण अवसर तथा सुविधायें मिल सकें। अध्ययन सुविधा की दृष्टि से लोहिया की स्वतन्त्रता की अवधारणा को निम्न वृहद् भागों में बांट सकते हैं :—

(क) सामाजिक स्वतन्त्रता—सामाजिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत हम देखेंगे कि समाज द्वारा व्यक्ति के किस क्षेत्र पर कितना नियन्त्रण लगाना उचित होगा अर्थात् समाज का व्यक्ति के प्रति क्या व्यवहार हो। किन्तु साथ ही समाज द्वारा उन प्रावधानों की स्वीकृति भी होगी, जहां लघु इकाई के रूप में व्यक्ति की सभी क्षमताओं का विकास हो सके। व्यक्तिगत पूर्णता हेतु लोहिया ने कुछ विशिष्ट प्रावधानों को मान्यता दी है, जैसे विश्वभ्रमण की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सरकारी नौकरों को नागरिक अधिकारों की प्राप्ति आदि। लोहिया व्यक्ति को विश्व के किसी भी भाग में घूमने, बसने तथा मृत्यु को प्राप्त होने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। उन्होंने लिखा है कि "विश्व में कहीं भी घूमने, कार्य करने तथा मृत्यु के मानव के अधिकार को मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। स्वदेशीता तथा अवाछनीयता के आधार पर घूमने या ठहरने पर प्रतिबन्धों के कानूनों का अन्त होना चाहिए।"[2] लोहिया इस मत के समर्थक थे कि व्यक्ति, जहां कहीं भी वह चाहे, उसे व्यवस्थित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाये। नागरिकता की अवधारणा एक काल-अतीत विचार है, जो एक क्षेत्र के लोगों को केवल उसी तक सीमित रखता है। अतः

---

1. उद्धृत, इन्टरनेशनल एन् साइक्लोपिडिया ऑव् सोशल साइन्स, (1968) भो. 5, पृ. 555.
2. लोहिया : मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 469.

उसका अंत कर देना चाहिए "अभी तक नागरिकता केवल शारीरिक रही है.........नागरिकता उसी को देते हैं जो किसी देश मे पैदा होता है, शरीर के हिसाब से या किसी में दो, पांच-दस बरस वह रह जाता है।...... जितने भी नागरिकता के गुण है वे शारीरिक हैं, नागरिकता के जो दूसरे गुण–भावना, मन, चित्त के हैं, वे भारत मे होने चाहिए।"[1] लोहिया के अनुसार पश्चिम में नागरिकता के गुण शरीर से लिये जाते है। भारत को उसकी नकल नही करनी चाहिए। हमारी नागरिकता मन की, चित्त की तथा संस्कृति की होनी चाहिए। स्वेतलाना को भारत में ठहरने की अनुमति न देने के लिए सरकार की आलोचना करते हुए लोहिया ने कहा कि स्वेतलाना को शरण न देना तो न केवल चित्त तथा मन की नागरिकता की धारणा विरोधी है, बल्कि शारीरिक परिभाषा से भी गलत है। लोहिया के शब्दो में "यह स्वेतलाना न सिर्फ स्टालिन की लड़की है, वह ब्रजेश की पत्नी भी है, न सिर्फ ब्रजेश की पत्नी है, यह भारतीय भी है और शरीर की परिभाषा से भी तथा मेरी उस परिभाषा से भी, मन की, चित्त की परिभाषा से भी, शरण न देना गलत है।"[2] इसी प्रकार उन्होने कुमारी मार्गोस्किनर को भारत सरकार द्वारा मैनकाइन्ड (समाजवादी मासिक पत्रिका) में कार्य करने हेतु भारत मे ठहरने की अनुमति न देने की आलोचना करते हुए लोहिया ने कहा, यह न केवल अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा निरूपित काम मे भेदभाव न बरतने के नियम के विरुद्ध है बल्कि समाजवादी विचारधारा के भी भिन्न है।[3]

इसी क्रम में—व्यक्ति की पूर्णता के प्रावधानो मे–लोहिया ने बिना पासपोर्ट के पूरे विश्व में घूमने की इच्छा व्यक्त की। "मेरे जीवन का .... अरमान है कि सारी दुनिया मे बिना पारपत्र मुसाफिरी कर सकूं।"[4] उनके अनुसार निर्बन्ध भ्रमण मूलभूत मानव अधिकार है, उससे व्यक्ति को किसी आधार पर वंचित नही किया जाना चाहिए। लोहिया ने मृत व्यक्तियों के शवो को हजारों मील दूर अपने देश मे ले जाकर दफनाने की सशक्त भावा मे

---

1. लोकसभा डिबेट्स, चौथी सिरीज, भाग 2 1967, पृ. 2231-32.
2. वही,
3. चौखम्भा, वर्ष 2, अंक 40, संख्या 92, 1 अगस्त, 1959, पृ. 1, साथ ही लोहिया : भारत, चीन और उत्तरी सीमायें, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 83.
4. लोहिया : देश विदेश नीति : कुछ पहलू, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1970, पृ. 70.

आलोचना की। हालाकि यह सही है कि मरने वाले के अपने स्वजन और रिश्तेदार होते हैं। उनकी आखिरी बार चेहरा देखने की बड़ी तीव्र इच्छा होती है, साथ ही राष्ट्र भी उसकी सेवाओं के प्रति सम्मान प्रकट करना चाहता है। किन्तु इसके बावजूद इससे दो नकारात्मक परिणाम सामने आते है :—

प्रथम, इससे सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय एकता का स्वप्न धूमिल हो जाता है, क्योंकि यह कार्य संकीर्ण राष्ट्रीय तथा स्थानीय मान्यताओं पर आधारित होता है। इस प्रकार सब "विभिन्न राष्ट्रीय मातायें ही रहेंगी -...पृथ्वी माता की कोई जगह नही रहेगी......पृथ्वी माता का निरादर करते-करते भारत माता का निरादर चल पड़ा है।"[1]

द्वितीय, यह एक तरह की विलासी फैशन का प्रतीक है, जिसमे पैसा राज्य का यानी साधारण गरीब जनता का खर्च होता है।

इन नकारात्मक परिणामो को ध्यान मे रखते हुए लोहिया ने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय—सम्पूर्ण मानव जाति—एकता की दृष्टि से यह आवश्यक एवं जरूरी है कि व्यक्ति चाहे कही भी मरे, उसे वही दफना दिया जाये।

लोहिया ने अपनी समाजवादी व्यवस्था मे सरकारी नौकरो को सभी प्रकार के नागरिक अधिकार देने की वकालत की है अर्थात् लोहिया ने सरकारी नौकरो को राजनीतिक-दलों की सदस्यता देने और चुनाव लड़ने का अधिकार देने की आवश्यकता पर जोर दिया। उनके अनुसार इसके बिना समाजवादी सभ्यता एक गुलामीयुक्त व्यवस्था सिद्ध होगी, क्योंकि समाजवादी व्यवस्था की मान्यता इस आधार पर है कि निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र की अधिकाधिक वृद्धि हो। फलतः सरकारी नौकरो की संख्या बढती जायेगी। साथ ही वे नागरिक अधिकारों से वंचित होते चले जायेंगे। इसका अर्थ समाजवादी गुलामी ही होगा। "समाजवाद का अर्थ होता है कि निजी क्षेत्र कम हो और सार्वजनिक क्षेत्र बढे। जिसका अर्थ होगा सरकारी नौकरों की संख्या बढे। जैसे-जैसे......—समाजवाद बढे वैसे-वैसे......जनता का अधिकतर हिस्सा सरकारी नौकर बनता रहे और

---

1. रित्ती, बी.पी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. : (सम्पादित) लोकसभा में लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1975, भाग-7, पृ. 294-5.

वैसे वे सरकारी नौकरों को राजकीय अधिकार नही रहें, दलो मे नही जायें, राजकीय पार्टियो का काम नही करें, राजनीति नही करें, तो फिर समाजवादी गुलामी, पराधीनता हो जायेगी।"[1] लोहिया ने भय की इस सम्भावना मे, कि राजनीतिक दलों की बदलती सरकारो मे अगर सरकारी नौकरों को दलो के साथ जोड दिया गया तो इसके परिणाम नकारात्मक होगे, इन्कार किया; बल्कि इससे भिन्न लोहिया ने कहा "वास्तविकता यह है कि बिना राजकीय संगठन और दलो मे प्रवेश के सरकारी नौकर स्वार्थी बन जाता है या गैर-जिम्मेदार। राजकीय दलो में यदि प्रवेश कर सकेगा तो जिम्मेदार बनेगा, उसका माथा खुलेगा। वह सभी प्रश्नो पर थोड़ा सोच-विचार करेगा। ईमानदारी भी, थोड़ी बहुत बढ़ेगी।"[2]

लोहिया की इस मान्यता के संदर्भ में अगर हम आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाते है तो वह उपयुक्त नहीं जान पड़ती है, क्योंकि इस धारणा का सीधा तात्पर्य एक प्रतिबद्ध नौकरशाही की मान्यता मे विश्वास प्रकट करना है। सरकारी नौकरों को चुनाव लड़ने जैसे अधिकार दे दिये गये तो विधायी तथा कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य एक वर्ग के हाथ मे एकत्र हो जायेंगे। यह एक शंकापूर्ण स्थिति है कि ऐसी परिस्थिति में क्या जन-सामान्य की स्वतन्त्रता बनी रह सकेगी? क्या इसमें निरंकुशता की सम्भावना नहीं झलकती? व्यावहारिक रूप से देखा गया है प्रतिबद्धता की स्थिति मे यह नौकरशाही एक नये वर्ग के रूप मे सामने आती है। फलत: कई प्रकार के नकारात्मक परिणाम सामने आते हैं, जिनका पीछे विवेचन कर चुके हैं। संक्षेप मे, लोहिया की इस मान्यता के दो नकारात्मक पहलू सामने आते हैं: प्रथम, इस मान्यता द्वारा वृहद् समुदाय की पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श सभव नही हो पाता है, क्योंकि प्रतिबद्ध नौकरशाही युक्त व्यवस्था मे एक तरफ-जनसामान्य की स्वतन्त्रता की सभावनायें खत्म हो जाती हैं तो दूसरी तरफ सभी सरकारी नौकरों को भी स्वतन्त्रता का वातावरण उपलब्ध नहीं हो पाता है। विरोधी दलों से जुड़े हुए सरकारी नौकरो के सामने भय तथा डर का वातावरण हमेशा बना रहेगा। अतः इस मान्यता मे यह कल्पना करना कि सभी नौकरो के सामने समान स्वतन्त्रता का वातावरण बना रहेगा, गलत होगा। द्वितीय, लोहिया की यह धारणा स्वयं उनके चिन्तन मे एक विरोधाभास की स्थिति लिये हुये

1. लोहिया : भारत, चीन और उत्तरी सीमायें, हैदराबाद : नवहिंद, 1963, पृ. 371-72.
2. वही.

है। जैसाकि पीछे उल्लेख किया जा चुका है, स्वयं लोहिया ने सोवियत रूस के संदर्भ में प्रतिवद्ध नौकरशाही के फलस्वरूप उभरे वर्ग की आलोचना करते है तथा वृहद् पूर्णता के आदर्श के लिए उस स्थिति को अनपयोगी करार देते हैं। किन्तु यहां पर लोहिया ने स्वयं सरकारी नौकरो को राजनीतिक दलों की सदस्यता तथा चुनाव लड़ने आदि अधिकारों का समर्थन करके उसी नकारात्मक स्थिति की तरफ बढ़ जाते हैं।

लोहिया ने कार्यात्मिक आधार पर व्यक्ति को सभी स्वतन्त्रता देने के साथ ही उसने चिन्तन तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे भी व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देने की वकालत की है। जे. एम मिल की भांति लोहिया का मानना है कि अल्पसख्यक वर्ग को अपनी अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये, चाहे वे विचार बहुसख्यक के विरोधी ही क्यों न हों। अल्पसख्यक को हमेशा स्वतन्त्र-भापण की छूट हो। विरोधियों को अपना मत इस आधार पर मनवाना कि वह बहुसख्यक का निर्णय है, गलत है। "हम चालीस करोड हैं। इनमे से 39 करोड़ 99 लाख 99 हजार 999 अगर आदमी एक राय के हो, चाहे गलत हों या वाहियात हो, सब कुछ हो, लेकिन जब तक मैं अपनी राय पर दृढ हूं और किसी कानून का उल्लंघन नही करता हूं, तब तक इन 39 करोड 99 लाख 99 हजार और 999 आदमियो को कोई हक नही है कि वे मेरे जान की सुरक्षा को खतरे में डालें या मेरे सम्मान का, मेरी इज्जत का हनन करें और अगर वे ऐसा करेंगे तो मैं उनको पागल कहूंगा।"[1] जिस प्रकार वहुसंख्यक जनता को अल्पसंख्यक की अभिव्यक्ति में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है, उसी प्रकार सही और गलत, उपयुक्त और अनुपयुक्तता के आधार पर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के रास्ते मे राज्य को भी बाधक नही बनना चाहिए। राज्य को हस्तक्षेप का अधिकार तभी प्राप्त हो जबकि व्यक्ति के भाषणों से उसकी सुरक्षा को खतरा पैदा होता हो। लोहिया के शब्दो मे, "बोलने के अधिकार समेत भाषण की स्वतन्त्रता आवश्यक नही की वह सही ही हो। सही क्या है और गलत क्या है, इसका निर्णय जनता द्वारा होना चाहिए। प्रतिवन्ध केवल तभी लगाये जाने चाहिये, जब राज्य की सुरक्षा खतरे मे हो और इसके द्वारा सुरक्षा स्थापित होती हो।"[2]

---

1 पित्ती, बी. वी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. (सम्पादित), लोकसभा मे लोहिया, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1973, भाग-3, पृ. 147.

2 लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, प. 424.

लोहिया ने अन्तःकरण की स्वतन्त्रता पर भी जोर दिया। ईसाई-मिशनरियों की गतिविधियों के बारे में लोहिया का कहना था कि मैं धार्मिक रूपान्तरण पर प्रतिबन्ध लगाने का विरोधी हूं, किन्तु कपटपूर्ण एवं छलपूर्ण रूपान्तरण पर नियन्त्रण होना चाहिये। लोहिया का सुझाव था कि इस प्रकार के उद्देश्य के लिए सरकार को पंजीकरण कार्यालय स्थापित करने चाहियें। वे चाहते थे कि पश्चिमी मिशनरिज भारतीय हरिजनों तथा आदिवासियों के प्रति आदर तथा अनुराग की भावना प्रदान करें, जिसे कि उच्च भारतीय जातियाँ उन्हे प्रदान नही कर पाती हैं।

लोहिया की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में आस्था उस समय अतिवादी स्थिति पर पहुंच जाती है, जबकि उन्होंने यह सुझाव दिया कि आत्महत्या करना व्यक्ति का निजी एव व्यक्तिगत मामला है, सरकार को उसमे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। "इन्सान को यह आजादी होनी चाहिये कि वह आत्महत्या करे या न करे। यह तो उसका अपना मामला है। दूसरा कौन होता है दखल देने वाला कि तुमने आत्महत्या करने की कोशिश की। और उसमे नाकामयाब रह गये तो उसको जेल भेज दिया गया।"[1] हालाकि लोहिया ने मृत्युदण्ड का विरोध किया, किन्तु गाधी की भांति उन्होंने माना कि अगर कोई असीम वेदना से पीड़ित हो तथा अन्ततः उसका मरना निश्चित हो गया हो तो उसे उस वेदना से छुटकारा दिलाने हेतु खत्म कर देना चाहिये।

इस प्रकार लोहिया ने व्यक्ति को पूर्णता हेतु वे सभी आधार प्रस्तुत करने का प्रयास किया, जिसके अन्तर्गत उसकी हितवृद्धि अन्तर्निहित हो सकती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि लोहिया की मान्यता में व्यक्ति का कोई सामाजिक पक्ष नही है अर्थात् ऐसा नही है कि लोहिया व्यक्ति को ऐसा आधार प्रस्तुत कर रहे है, जिस पर चलकर वह उच्छृंखल बन जाये तथा अपने जीवन से सम्बन्धित सामाजिक पक्ष से पूर्णतः मुक्त हो जाये। यही हम लोहिया तथा उपयोगितावादी विचारक जे. एस. मिल म तात्विक अन्तर पाते है। मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति का कोई स्वतः विकास नही हो सकता। उस समाज को समाज नही कहा जा सकता, जिसमें व्यक्ति की सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं को आदर और मान्यता नहीं मिले। व्यक्तिगत मान्यतायें चाहे वे सामाजिक मान्यताओं के अनुकूल हों या प्रतिकूल, उन्हें स्वीकृति मिलनी चाहिये।

---

1. लोहिया : भारत, चीन और उत्तरी सीमायें, हैदराबाद : नवहिन्द 1963, पृ. 322.

होती है, वह सरकार को करना चाहिए। लेकिन आपको इतनी सलाह दूंगा कि आप उस पर बहुत ज्यादा वक्त खराब मत करो। जो बहुत जरूरी कहीं कोई चीज हो— ……या कहीं तस्कार व्यापार से कोई बहुत ज्यादा रुपया इधर-उधर बनाने का सवाल है, कहीं कोई चोरी बहुत बड़े पैमाने पर चल रही है तो पड़ जाना, लेकिन इसको इतना ज्यादा महत्व न देना।"[1] साथ ही लोहिया की यह स्थिति काफी प्रभावशाली जान पड़ती है कि स्थानीय आधार पर सकीर्णता गलत है, किन्तु आधुनिक युग के असमान राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीयता का आदर्श संभव नहीं हो पाता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय समानता तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए विकासशील देशों के सामने राष्ट्रवाद के सिवाय कोई चारा नहीं रह जाता है। अतः ऐसी स्थिति मे कुछ सकारात्मक प्रतिबन्धों को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए, ताकि राष्ट्रीय पूर्णता को कोई खतरा पैदा न हो पाये तथा राष्ट्रीय पूर्णता के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता का आदर्श भी बना रह सके।

द्वितीय, व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि व्यक्ति द्वारा सामाजिक दृष्टि से मान्य कानूनों का उल्लंघन किया जाये। लोहिया राज्य को यह अधिकार देते हैं कि अगर व्यक्ति सामाजिक मान्य कानूनों के विरुद्ध विद्रोह करता है, तो उसको उसके विरुद्ध कार्यवाही करनी चाहिए।[1]

तृतीय, सामाजिक मान्य कानूनों के घेरे में व्यक्ति को अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु 'कर्म" के क्षेत्र मे लोहिया ने बहुसंख्यक की मान्यता को ही स्वीकृति दी है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोहिया ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण का उचित सामंजस्य करने का प्रयास किया है। अतः लोहिया को हम टी. एच. ग्रीन तथा गांधी के निकट पाते हैं। ग्रीन के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का निर्धारण "सामान्य अच्छाई" से तय होता

---

1. लोहिया : देश-विदेश नीति : कुछ पहलू, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1970, पृ. 70.
2. पित्ती, बी. वी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. : (सम्पादित) लोकसभा में लोहिया हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय, न्यास, 1973, भाग-3, पृ. 147.
3. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 424.

मिल के शब्दों में, "मनुष्य जाति का कल्याण इसी में है कि वह एक दूसरे को अपनी रुचि के अनुसार जीवन-यापन करने की स्वतन्त्रता स्वीकार करे, न कि इसमें कि वह प्रत्येक को दूसरों की रुचि के अनुसार जीवन-यापन करने को बाध्य करें।"[1] इस प्रकार मिल की मान्यता में व्यक्तिगतता तथा सामाजिकता में द्वन्द्व की स्थिति पैदा हो जाती है। हालांकि चिन्तन तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में लोहिया की अवधारणा मिल के काफी निकट है। मिल की भांति लोहिया ने भी माना कि स्वतः विकास के लिए स्वतन्त्रता की व्यापक सम्भावना के साथ समाज को व्यक्ति को मुक्त छोड़ देना चाहिए। किन्तु लोहिया का दृष्टिकोण मिल की अपेक्षा स्वतन्त्रता की अवधारणा के प्रति अधिक सामाजिकता लिए हुये है। जैसाकि हम पीछे कह चुके हैं, लोहिया की मान्यता में व्यक्ति पूर्ण है, किन्तु साथ ही व्यक्ति की पूर्णता इसी में निहित है कि वह अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर सामाजिक हितवृद्धि हेतु अपने से उच्च समुदाय के सामने अपने हितों को न्योछावर कर दें। उच्च समुदाय हितपूर्ति के क्रम में लोहिया व्यक्ति से चलकर परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्ततः सम्पूर्ण मानव जाति तक जाते हैं। अतः लोहिया की मान्यता में व्यक्ति तथा समाज (वृहद् समुदाय) में टकराहट तथा द्वन्द्व नहीं बल्कि यह सम्बन्ध तो वृहद् पूर्णता की ओर बढ़ती हुयी शृंखला की कड़ियां हैं। इस शृंखला में प्रत्येक कड़ी दूसरी कड़ी की सार्थकता में उपयोगी है। इस प्रकार व्यक्तिगत अच्छाई सामाजिक अच्छाई से निकटता से जुड़ी हुयी है। दूसरे शब्दों में लोहिया की मान्यता में व्यक्तिगत अच्छाई अनिवार्य रूप से सामाजिक अच्छाई होगी। सामाजिक महत्ता की दृष्टि में लोहिया ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा में निम्न प्रतिबन्धों को भी स्वीकृति दी है :—

प्रथम, लोहिया ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्ति को बिना किसी प्रतिबन्ध के घूमने तथा बसने की वकालत की, किन्तु राष्ट्रीय एवं सामाजिक महत्ता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा कि अगर इससे किसी भाग में अन्तर्राष्ट्रीय चोर बाजारी तथा तस्करी बढ़ने की संभावना हो तो राज्य को अनिवार्य रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। साथ ही लोहिया ने इस आशंका से भी पूर्णतः सचेत रहने का आग्रह किया कि कहीं राज्य के हस्तक्षेप का दायरा न बढ़ जाये। लोहिया ने लिखा है : "उसमें जहां कहीं रोक की जरूरत

1. मिल, जॉन स्टुअर्ट : स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधी शासन, (अनूदित) उत्तरप्रदेश : हिन्दी समिति, सूचना विभाग, 1963, पृ. 15.

होती है, वह सरकार को करना चाहिए। लेकिन आपको इतनी सलाह दूंगा कि आप उस पर बहुत ज्यादा वक्त खराब मत करो। जो बहुत जरूरी कहीं कोई चीज हो—……–या कहीं तस्कर व्यापार से कोई बहुत ज्यादा रुपया इधर-उधर बनाने का सवाल है, कहीं कोई चोरी बहुत बड़े पैमाने पर चल रही है तो पड़ जाना, लेकिन इसको इतना ज्यादा महत्व न देना।"[1] साथ ही लोहिया की यह स्थिति काफी प्रभावशाली जान पड़ती है कि स्थानीय आधार पर सकीर्णता गलत है, किन्तु आधुनिक युग के असमान राष्ट्रों मे अन्तर्राष्ट्रीयता का आदर्श सभव नही हो पाता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय समानता तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए विकासशील देशो के सामने राष्ट्रवाद के सिवाय कोई चारा नही रह जाता है। अतः ऐसी स्थिति मे कुछ सकारात्मक प्रतिबन्धो को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए, ताकि राष्ट्रीय पूर्णता को कोई खतरा पैदा न हो पाये तथा राष्ट्रीय पूर्णता के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता का आदर्श भी बना रह सके।

द्वितीय, व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि व्यक्ति द्वारा सामाजिक दृष्टि से मान्य कानूनो का उल्लंघन किया जाये। लोहिया राज्य को यह अधिकार देते हैं कि अगर व्यक्ति सामाजिक मान्य कानूनो के विरुद्ध विद्रोह करता है, तो उसको उसके विरुद्ध कार्यवाही करनी चाहिए।[1]

तृतीय, सामाजिक मान्य कानूनो के घेरे में व्यक्ति को अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु 'कर्म" के क्षेत्र में लोहिया ने बहुसख्यक की मान्यता को ही स्वीकृति दी है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोहिया ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियन्त्रण का उचित सामंजस्य करने का प्रयास किया है। अतः लोहिया को हम टी. एच. ग्रीन तथा गाधी के निकट पाते हैं। ग्रीन के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का निर्धारण "सामान्य अच्छाई" से तय होता

1. लोहिया : देश-विदेश नीति : कुछ पहलू, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1970, पृ. 70.
2. पित्ती, बी. वी., त्रिपाठी, ए. तथा निर्मल, ओ. पी. . (सम्पादित) लोकसभा मे लोहिया हैदराबाद राममनोहर लोहिया समता विद्यालय, न्यास, 1973, भाग–3, पृ. 147
3. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ 424.

है। व्यक्ति समाज का एकीकृत अंग है, अतः व्यक्तिगत अच्छाई सामाजिक अच्छाई ही होगी। राज्य का दायित्व है कि वह उन प्रावधानों को सुरक्षा प्रदान करे, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बनाये रखने में आवश्यक होते हैं। गांधी के अनुसार "हम स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें दूसरों को मारकर या दुःख देकर (अर्थात् शरीर बल से) नहीं, बल्कि स्वयं मरकर या दुःख सहकर (अर्थात् आत्मबल से) स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए।"[1] किन्तु ग्रीन एवं गांधी, दोनों के नैतिक एवं आध्यात्मिक आग्रह से लोहिया बहुत दूर हैं।

(ख) राजनीतिक स्वतन्त्रता : राजनीतिक स्वतन्त्रता से लोहिया का तात्पर्य एक इकाई के रूप में राष्ट्र की आत्मपूर्णता हेतु सभी प्रकार के उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का अन्त होने से है। लोहिया ने पांच प्रकार के साम्राज्यों—जमीनवाला, बुद्धिवाला, उत्पादनवाला, दामोवाला और शस्त्रोंवाला—का विवेचन किया है। इन विभिन्न प्रकार के साम्राज्यों के परिणामस्वरूप एक समतायुक्त विश्व का सृजन करना असंभव है, क्योंकि इन्होंने मानवजाति के प्रत्येक पक्ष को जकड़ रखा है। लोहिया के समान विचार प्रकट करते हुए अरविन्द घोष ने भी उन सभी आधारों पर उपनिवेशवाद का विरोध किया, जिन पर लोहिया ने दृष्टिगत किया है। अरविन्द के शब्दों में : 'राष्ट्रीय अहंभाव, प्रभुत्व का अहंकार और विस्तार की अभिलाषा अभी भी मानव बुद्धि पर शासन करते हैं, चाहे उच्चतर उद्देश्यों और अधिक श्रेष्ठ राष्ट्रीय नैतिकता के हल के रूप में प्रारम्भ हो जाने के कारण वे अपनी प्रणालियों में कितने भी संशोधित क्यों न हो गये हों, जब तक यह भावना समूल ही नहीं बदल दी जाती तब तक स्वाधीन राष्ट्रों के संघ के द्वारा मनुष्य जाति की एकता एक भव्य कल्पना ही रहेगी।"[2] अतः लोहिया के अनुसार समाजवादी व्यवस्था का यह दायित्व होगा कि एशिया तथा अफ्रिका में फैले उपनिवेशवाद का विरोध करे तथा इस हेतु आवश्यक कदम उठाये। इस दृष्टि से उन्होंने उन विभिन्न शक्तियों को जो साम्राज्यवाद विरोधी हैं, सभी को एक मंच पर एकत्र होकर इसका विरोध करने का आग्रह किया। इसी प्रकार

---

1. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली, : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1963, खण्ड-9, पृ. 325.
2. श्री अरविंद : मानव एकता का आदर्श, पांडिचेरी : श्री अरविंद सोसाइटी, 1969, पृ. 75.

साम्राज्य विरोधी मंच की नरेन्द्र देव ने भी वकालत की थी।[1] गाधी को लिखे एक पत्र मे साम्राज्य के पूर्ण अन्त हेतु लोहिया ने एक चार सूत्री योजना रखी, जो निम्न प्रकार है :[2]

1. सब कौमे आजाद होंगी। जिन कौमो को अभी आजादी है वे अपने विधान का निर्णय बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित स्वराज्य पचायत (कन्स्टिट्यूएन्ट ऐसेम्बली) के द्वारा करेंगी।

2. सब जातिया समान है और दुनिया के किसी हिस्से मे कोई जातिगत विशेषाधिकार नही होंगे। जो जहां चाहेगा वहा उसके बसने मे कोई राजनीतिक बाधा नही होगी।

3. किसी देश में किसी देश की सरकार और उसके अधिवासियो की साख और लगी हुई पूंजी रद्द कर दी जायेगी या अन्तर्राष्ट्रीय पचायतो के सामने पुन: विचार के लिए पेश की जायेगी। जांच के बाद जो उधार और लगी हुई पूंजी ठीक समझी जायेगी, उसकी जुम्मेदारी व्यक्तियो की नही होगी, राष्ट्र की होगी।

जबकि दुनियां की कौमें इन तीनों उसूलो को मंजूर कर चुकेंगी तब एक चौथा उसूल भी अमल मे आयेगा, वह होगा—

4. पूर्ण नि:शस्त्रीकरण।

लोहिया के अनुसार ये चार सोपान हैं, जो स्वतन्त्र विश्व के आधार होंगे।

(ग) आर्थिक स्वतन्त्रता - लोहिया ने इस तथ्य को अच्छी तरह अनुभव किया कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना अन्य प्रकार की स्वतन्त्रताओं का कोई अर्थ नही है। आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु लोहिया ने छोटी-इकाई-तकनीक को अपनाने का सुझाव दिया। वह एक तरफ व्यक्ति तथा दूसरी तरफ राष्ट्र को आत्मपूर्णता प्राप्ति मे अग्रसर करेंगी। साथ ही लोहिया उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा लोकतांत्रिककरण के समर्थक भी थे। इन

---

1. देव, नरेन्द्र : "प्रोब्लम्स ऑव सोशलिस्ट यूनिटी", कांग्रेस सोशलिस्ट, वो. 3, न. 15, 9 अप्रेल 1938. पृ. 267.
2. संघर्ष, वर्ष 3, अंक 22, 10 जून 1940, पृ. 18, साथ ही द कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मागाधी, दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑव इण्डिया, 1978, वो. 72, पृ. 405.

उद्योगों को स्वतन्त्र स्वायत्त निगमों के रूप में बदल दिया जाये तथा इनके प्रशासन में श्रमिक तथा उपभोक्ताओं को भी प्रतिनिधित्व दिया जाये।

लोहिया इस स्थिति से भी पूर्णतः सचेत थे कि आर्थिक क्षेत्र में अप्रतिबन्धित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रताओं के प्रति खतरा है, क्योंकि अप्रतिबन्धित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सीधा तात्पर्य पूंजीवादी व्यवस्था को बढ़ावा देना होगा। अतः समाजवादी समाज में उत्पादन का स्वतन्त्र उद्यम संभव नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने कई प्रकार के आर्थिक प्रतिबन्धों—अतिरिक्त भूमि का भूमिहीन श्रमिकों को हस्तांतरण, बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, मूल्य नियन्त्रण, गरीबी पर प्रतिबन्ध, भाषा तथा जातीय नीति का क्रियान्वयन—का सुझाव दिया।

3. एक सन्तुलित दृष्टिकोण

सामान्यतः समानता तथा स्वतन्त्रता को दो विरोधी अवधारणाओं के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस संदर्भ में हम डि-टोक्यावली तथा लार्ड एक्टन का नाम विशेष रूप से ले सकते हैं। इनकी मान्यता में स्वतन्त्रता की स्थिति में समानता असंभव बनी रहती है तथा समानता की स्थिति में स्वतंत्रता का लोप हो जाता है। जबकि दूसरी तरफ एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए, लोहिया ने अपनी मान्यता में इन दोनों—समानता तथा स्वतन्त्रता—के सह-अस्तित्व तथा उचित समन्वय पर जोर दिया है। लोहिया का समाजवाद से तात्पर्य समता और समृद्धता से है, ताकि व्यक्ति तथा समाज अपनी स्वतन्त्रताओं की पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति कर सकें। असमानतायुक्त व्यवस्था में स्वतन्त्रता की प्राप्ति असम्भव है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक आर्थिक तथा कानूनी अधीनता की स्थिति में स्वतन्त्रता की कल्पना करना निरर्थक है। लोहिया अपनी समानता की परिकल्पना में सम्पूर्ण बराबरी युक्त व्यवस्था विकसित करने का प्रयास करते हैं, जो उनकी स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करती है। वहीं दूसरी तरफ उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की धारणा द्वारा ऐसे प्रतिबन्धों युक्त आधारों का विवेचन किया है, जिससे व्यक्ति की पूर्णता के साथ समाज की पूर्णता भी बनी रह सके तथा व्यक्ति समुदाय की हितवृद्धि का अतिक्रमण न कर सके। अतः स्वतन्त्रता का तात्पर्य उच्छृंखलता तथा अनाचारयुक्त व्यवस्था नहीं बल्कि व्यक्ति को समाज की पूर्णता हेतु कुछ सीमाओं को स्वीकार करना होगा। ये सीमायें व्यक्ति के विकास पर नियन्त्रण का कार्य नहीं वरन् सकारात्मक रूप से उनकी हितवृद्धि में सहयोगी होंगी। अतः स्वतन्त्रता की धारणा समानता को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होगी,

क्योंकि यह राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित होने वाले उन दबावो को दूर कर सकेगी जो समानतायुक्त व्यवस्था को झकझोर देते हैं तथा अधीनता का वातावरण तैयार कर देते हैं।

इस प्रकार लोहिया की मान्यता स्वतः ही पश्चिमी व्यवस्थाओं– उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों–से भिन्न रूप ले लेती है। उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों चिन्तनधाराओं में समानता तथा स्वतन्त्रता के सह-अस्तित्व के प्रश्न पर समान रूप से एकाकी मत अपनाया जाता है। उदारवादी व्यवस्था खास तौर से हस्तक्षेप सिद्धान्तकारों (लिसेजफेयर थ्येरिस्ट) द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा मार्क्सवादी व्यवस्था द्वारा आर्थिक समानता में तथाकथित विश्वास प्रकट किया जाता है। किन्तु दोनों ही व्यवस्थाओं की मान्य धारणाओ में समानता एवं स्वतन्त्रता का सह-अस्तित्व एक साथ सम्भव नहीं हो पाता। उदारवादी स्वतन्त्रता की मुक्त अवधारणा समानता की अस्वीकृति पर आधारित है, क्योंकि जब अहस्तक्षेप-सिद्धान्त मे विश्वास प्रकट किया जाता है, तो स्वाभाविक है कि समाज में आर्थिक आधार पर वर्ग पैदा हो जाते हैं। आर्थिक एकाधिकारवादी प्रवृत्तियां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। फलतः आर्थिक दृष्टि से विपन्न लोगों की स्थिति, अधीनस्थता की होती है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी मान्यता में वर्ग समाप्ति के प्रयास में शक्तिशाली नौकरशाहीयुक्त राज्य का ढांचा खड़ा हो जाता है, उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्णतः अन्त हो जाता है और राज्य निरपेक्षवादी तथा तानाशाहीवादी रूप में सामने आता है। अतः समानता एवं स्वतन्त्रता के पूर्ण आदर्श मूल्यो के लिए दोनो ही व्यवस्थायें निरर्थक हैं। लोहिया ने लिखा है, "आज दुनिया में सिर्फ दो आदर्श है जो दुनियां के लोगों को अपनी तरफ खीचते हैं। एक तो है एटलांटिक खेमें की आजादी का आदर्श और दूसरा है सोवियत खेमे का बराबरी का आदर्श ....एक खेमे में इन्सान की इन्सान से बराबरी के आदर्श को हासिल करने की कोशिशें हो रही हैं ... .इस कोशिश में राज्य बहुत ज्यादा अपने व्यक्तियों के ऊपर दखल देने लग जाता है और उससे जुल्म और अन्याय निकलता है। दूसरे खेमे मे व्यक्ति की आजादी की इतनी परवाह की जाती है कि राज्य या संगठन को एक हद तक ही दखल देने का मौका दिया जाता है। उस हद से ज्यादा नही। वहां पर हो सकता है, बराबरी के मामले मे कमी रह जाती हो, लेकिन शहरी आजादियों, बोलना, संगठन बनाना, और दूसरे मामले मे, यहा के लोग अच्छे रहते हैं। ये दो आदर्श हैं जो लोगों को अपनी तरफ खीचते हैं।"[1] जबकि लोहिया ने अपनी समाजवादी मान्यता मे

1. लोहिया : भारत, चीन और उत्तरी सीमायें, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 320.

समानता तथा समृद्धता का विचार स्वीकार कर उसे उदारवादी व्यवस्था से र ले जाते हैं तो दूसरी तरफ–मोटे तौर पर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर एव व्यक्ति को कुछ क्षेत्रों में सभी प्रकार की स्वतन्त्रता देकर मार्क्सवादी मान्यता से भी परे जाते हैं। लोहिया का प्रयास ऐसी समाजवादी व्यवस्था का सृजन करना रहा, जिसमे समानता तथा स्वतन्त्रता दोनो की समान रूप से प्राप्ति हो सके। दोनो के सामंजस्य पर आधारित व्यवस्था मे ही यह सम्भव होगा कि एक तरफ व्यक्ति तथा दूसरी तरफ सम्पूर्ण मानव जाति को पूर्णता हेतु अवसर प्राप्त हो सके।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन मे समानता एवं स्वतन्त्रता के सह-अस्तित्व की एक लम्बी परम्परा पायी जाती है। दोनो का यह समीकरण विवेकानन्द, गाधी तथा अरविन्द के चिन्तन में भी देख सकते हैं। किन्तु लोहिया की भाति, उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनो व्यवस्थाओ को अस्वीकार कर, समानता तथा स्वतन्त्रता के सह-अस्तित्व का प्रकटीकरण अरविन्द मे ज्यादा देखते है। इस संदर्भ में अरविन्द ने दोनों व्यवस्थाओ की आलोचना के वही आधार लिये हैं, जिन्हें लोहिया ने स्वीकारा। अरविन्द के शब्दो मे "–·····स्वाधीनता की माग·······का परिणाम प्रतियोगितापूर्ण व्यक्तिवाद होता है। जव उसका आग्रह समानता पर होता है, तो पहले तो वह संघर्षशील बन उठता है और फिर प्रकृति की विविधताओ से विमुख होने का प्रयत्न करता है, और इस कार्य को सफलतापूर्वक करने का एक ही ढंग है कि वह कृत्रिम और यंत्र-निर्मित समाज की रचना कर लेता है। जो समाज स्वाधीनता को अपना आदर्श मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, वह समानता को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है, और जिसका लक्ष्य समानता है उसे स्वाधीनता का त्याग करना पड़ेगा।"[1] किन्तु अरविन्द ने लोहिया से भिन्न, समानता तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु संस्थात्मक रूप से कोई व्यवस्था का सृजन करना ही पर्याप्त नही माना, बल्कि इसके लिए अधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मान्यता मे भी विश्वास होना आवश्यक माना। "स्वतन्त्रता एवं समानता·····समाज की बाह्य मशीनरी द्वारा अथवा मनुष्य के द्वारा·······चरितार्थ नही हो सकते।·····स्वाधीनता और समानता पर आश्रित एकता केवल मानव बन्धुत्व की शक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, इसका आधार और कोई वस्तु नही बन सकती। किन्तु भ्रातृभाव का अस्तित्व केवल आत्मा में और आत्मा के द्वारा ही होता है·········जब आत्मा स्वतन्त्रता की मांग करती

1. श्री अरविन्द : मानव एकता का आदर्श, पांडिचेरी : श्री अरविन्द सोसाइटी, 1969 पृ. 317.

है, वह स्वतन्त्रता उसके आत्म विकास की अर्थात् मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता मे उसके अन्तरस्थ भगवान के विकास की स्वतन्त्रता है । जब वह समानता चाहता है, तो उसकी माग यह होती है कि स्वतन्त्रता सबको समान रूप से प्राप्त हो तथा समस्त मनुष्यो में उसी एक ही आत्मा को, एक ही भगवान को स्वीकार किया जाये ।"[1] अतः लोहिया का महत्व इसी में है कि उन्होने बिना किसी आध्यात्मिक पूर्वाग्रह के इन दोनो–समानता तथा स्वतन्त्रता–के सह-अस्तित्व हेतु एक समाजवादी व्यवस्था का सृजन करने का प्रयास किया ।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि लोहिया ने अपनी समानता तथा स्व-तन्त्रता की अवधारणा मे मूल्यो का ऐसा दार्शनिक आधार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, जिसमे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को इस बात का पूर्ण अवसर मिल सके कि वे अपनी योग्यता का पूरा-पूरा विकास कर सकें । समानता तथा स्वतन्त्रता के दार्शनिक मूल्यो की व्यावहारिक परिणति हेतु लोहिया ने क्या सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम अपनाये, का निरूपण अगले अध्याय मे करने का प्रयास करेंगे । जहा हम यह देख सकेंगे कि लोहिया व्यक्ति तथा समाज की पूर्णता हेतु कौन से सुधारात्मक मूल्य एव व्यवस्था को अपनाये जाने पर जोर देते हैं ।

———

1. श्री अरविन्द : मानव एकता का आदर्श, पांडिचेरी : श्री अरविन्द सोसाइटी, 19[illegible] पृ. 317–18.

समाजवाद : समाज सुधार

1. आधुनिकता एवं परम्परा

अब तक हमने लोहिया के चिन्तन को केवल दार्शनिक आधार पर ही विश्लेपित करने का प्रयास किया है, अर्थात् लोहिया की समाजवादी व्यवस्था का वैचारिक धरातल पर ही मूल्यांकन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि लोहिया ने दार्शनिक आधार पर जो वैचारिक व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था सृजन करने का प्रयास किया, क्या उसका उन्होंने व्यावहारिक रूप से भी आधार प्रस्तुत करने की कोशिश की है। क्या लोहिया समाजसुधार की ऐसी पद्धति अपनाते हैं, जो उनकी व्यवस्था के दार्शनिक मूल्यों को अमली जामा पहना सके। यह इसलिए भी आवश्यक है कि अगर किसी व्यवस्था का दार्शनिक तथा वैचारिक रूप से ही मूल्याकन किया गया और सामाजिक मूल्यो के संदर्भ में उसे जाचने की कोशिश न की गयी तो व्यवस्था की सार्थकता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। अतः प्रस्तुत अध्याय का मुख्य आग्रह वर्तमान सामाजिक-आर्थिक मूल्यो मे लोहिया का एक समाज-सुधारक के रूप मे मूल्यांकन करना है। साथ ही, समाजसुधारक के रूप मे लोहिया का मूल्यांकन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होगा कि व्यावहारिक राजनीतिक गतिविधियो के संदर्भ मे उनसे सम्बन्धित कई पूर्वाग्रहयुक्त मान्यतायें जुड़ी हुयी हैं। अतः हमारा प्रयास यह भी होगा कि इन मान्यताओं की सत्यता-असत्यता की परीक्षा करते हुए, उनके सभी मान्य सामाजिक मूल्यों को उनकी सम्पूर्ण व्यवस्था के घेरे में परखें।

लोहिया की समाजवादी व्यवस्था के मूल्यो—राजनीतिक मूल्य, समानता तथा स्वतन्त्रता का सह-अस्तित्व—को उस समय तक प्राप्त करना असंभव है, जब तक उनके अनुरूप सामाजिक-आर्थिक सरचना का निर्माण न कर लिया जाये। जातिप्रथा की व्यापक स्वीकृति, औरत के प्रति हीन भावना, सामन्तवादी प्रवृत्ति, निजी क्षेत्र की बढोत्तरी आदि भारतीय सामाजिक-आर्थिक

व्यवस्था की प्रमुख कमियां रही हैं। इन प्रवृत्तियों के प्रचलन में समाजवादी व्यवस्था की पूर्ण अभिव्यक्ति असंभव है, क्योंकि समाजवाद का आदर्श बराबरी की मान्यता में है, जबकि इन प्रवृत्तियों का आधार पदसोपानीय स्वीकृति में होता है। लोहिया के शब्दों में – "एक तरफ जातिप्रथा और उसकी आदतें तथा संस्कार, दूसरी तरफ कलपटगी और बहादुरिन की आमदनियों का महान् फर्क हिन्दुस्तान के बचे पानी को बहने नहीं देता। अब सिद्धान्तों पर केवल ऊपरी बहस छोड़कर सिद्धान्त और उनके अमल पर मिली-जुली बहस चलाकर ही दिमाग में ताजगी और आचरण में शुद्धता आ सकेगी।[1]

प्रचलित सामाजिक संरचना में चौखम्भा राज्य—राजनीतिक विकेन्द्रीकरण-की प्राप्ति असंभव है, क्योंकि केन्द्र से ग्राम तक राजनीतिक नेतृत्व केवल उस वर्ग के हाथ में होता है जो कि सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से उच्च होता है। फलतः नीचे से ऊपर तक केन्द्रित शक्ति की एक शृंखला बन जाती है। जिसमें निम्नतम व्यक्ति की महत्ता एवं पूर्णता की कल्पना सार्थक नहीं हो पाती। "यदि गांव और कस्बों के नेताओं का सिर्फ यह काम रहा कि वे एक केन्द्रित शक्ति को बढ़ायें, तो यह काम न बन पायेगा और अगर किसी तरह बन भी गया, तो नयी सभ्यता का उदय न होगा।"[2] अतः राजनीतिक रूपान्तरण की योजना नये सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में ही प्राप्त हो सकती है। इसी भांति समाजवादी सामाजिक व्यवस्था में समानता तथा स्वतन्त्रता का आदर्श भी दिखाया ही होगा। जातिप्रथा के कारण सामाजिक-आर्थिक अधीनस्थता तथा गैर-बराबरी में एक तरफ व्यक्ति तथा दूसरी तरफ समाज की अधिकतम हितपूर्ति कैसे सम्भव हो पायेगी। अधीनस्थता की स्थिति में अवसर तथा योग्यता सीमित दायरे में सिकुड़ जाती है तथा सम्पूर्ण सामाजिक—आर्थिक गतिविधियों पर एक वर्ग का आधिपत्य हो जाता है। अतः ऐसी स्थिति में निम्न जाति के साधारण व्यक्ति के लिए क्या यह संभव हो पायेगा कि उच्च जातियों के साथ समानता तथा स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। इसी प्रकार जब आर्थिक क्षेत्र में एक व्यक्ति से दूसरे की आमदनी में अस्सी गुने का अन्तर होगा तो स्वतः बड़े-छोटे का फर्क हो जायेगा।

इन सामाजिक-आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण ही समाज के प्रत्येक क्षेत्र में असमानता तथा ऊंच-नीच की स्थिति बन गयी है। निम्न जातियां तथा

---

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 9.
2. वही, पृ. 14.

नारियों की दशा दयनीय हो गयी है, सामाजिक हितवृद्धि की जगह निजी स्वार्थों को प्रमुखता मिल रही है। लोहिया ने लिखा है, "धर्म, राजनीति, व्यापार और प्रचार सभी मिलकर उस कीचड़ को संजोकर रखने की साजिश कर रहे हैं, जिसे संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है। यथास्थिति की यह साजिश अपने आप में इतनी शक्तिशाली है कि उससे बदनामी और मौत होगी। मुझे पूरा यकीन है कि मैंने जो कुछ लिखा है उसका और भी भयंकर बदला चुकाया जायेगा, चाहे यह लाजमी तौर पर प्रत्यक्ष या तात्कालिक भले ही न हो।"[1] अतः स्पष्ट है कि *भारतीय समाज में सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से* बुनियादी परिवर्तन नहीं किये जाते तब तक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना असम्भव होगी।

लोहिया के अनुसार समाजवादी सभ्यता के प्रकटीकरण हेतु आवश्यक है कि *समाज को आधुनीकृत रूप दिया जाये।* *समाज के* आधुनिकीकरण हेतु विभिन्न आधारों तथा साधनों–औद्योगिकीकरण, पश्चिमी शिक्षा, समान अवसर का सिद्धान्त, नियोजन पद्धति आदि–को सुझाया जाता है। किन्तु लोहिया ने माना कि प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट मान्यतायें तथा समस्यायें होती हैं। उन्ही मान्यताओं के संदर्भ में ही समाज को नया रूप दिया जा सकता है। अतः किसी एक सार्वभौमिक प्रतिमान को स्वीकार नहीं कर सकते। लोहिया के अनुसार "सार्वभौमिकता के गुण की आशायें——— अब भ्रामक सिद्ध हो चुकी हैं। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और उसके बाद के परिणाम एक अनोखी ऐतिहासिक स्थिति में अन्तर्निहित थे और एशिया व अफ्रीका में उसके दुहराये जाने में *असमर्थता थी।*"[2] अतः आधुनिकता का *निर्धारण* प्रत्येक देश की ऐतिहासिक घटनाओं तथा परम्पराओं, सामाजिक-आर्थिक संरचना तथा राजनीतिक विकास की परिस्थितियों द्वारा ही कर सकते हैं। लोहिया ने कहा, "राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध ठोस ऐतिहासिक स्थितियों में होना चाहिए। इससे अधिक विडम्बना और कोई नहीं हो सकती कि पूंजीवाद या साम्यवाद या समाजवाद को भी इतिहास और भूगोल से असंबद्ध रखकर सोचा जाये।"[3] सामाजिक क्षेत्र में जाति तथा धर्म की जकड़न और आर्थिक क्षेत्र में *लागत पूंजी की कमी, जनसंख्या की अधिकता,* बेरोजगारी तथा भ्रष्टाचार आदि भारतीय सामाजिक-आर्थिक जीवन की समस्यायें रही

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 8.
2. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित) इलाहाबाद : लोकभारती, 1977, पृ. 82 83.
3. वही, पृ. 85.

है। अतः कोई सुधार की पद्धति तथा आधुनिक रूपान्तरण की भी योजना इन्हीं के संदर्भ में तय की जायेगी, तभी वह सार्थक हो सकती है। उदाहरण के लिए, जाति तथा धर्म की रूढ़िवादी मान्यताओं से ग्रसित समाज में समान अवसर का पश्चिमी सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। हमारे सामाजिक मूल्यों में, पिछड़े समुदाय की आत्मपूर्णता हेतु, "विशेष अवसर" की [illegible] कुछ सत्यात्मकता पैदा हो सकती है। साथ ही, आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमारे यहां पूर्ण औद्योगिकीकरण की अपेक्षा [illegible] ही ज्यादा लाभप्रद हो सकती है, क्योंकि इनसे एक तरफ [illegible] का समाधान होता है तो दूसरी तरफ [illegible] लिए भी आवश्यक होगी। [illegible] अगर कोई भी मान्य पाश्चात्य पद्धति [illegible] उसके सार्थक परिणाम ही निकल [illegible] समाज में सफल हो पायेंगे।

अपने आदर्शों तथा उपदेशों को ही स्थायी मान लिया गया तो उनमें जड़ता आ जायेगी। अतः बदलते समय के साथ उसे गत्यात्मक तत्वों से सम्बद्ध किया जाये, अर्थात् सभ्यता के मान्य आदर्शों तथा मूल्यों में परिवर्तन को स्वीकार किया जाये, तथा उन्हें आधुनिकीकृत रूप दिया जाये। "ये परम्परायें उस समय तक कोई महत्व की नहीं, जब तक उन्हे ऐसे तत्वों से चमकाया न गया जो इतिहास के क्षेत्र से बाहर हैं।.........यदि मनुष्य को इतिहास में रहना सीखना है तो उसके बाहर रहने की उसे उतनी ही आवश्यकता है।"[1] लोहिया के अनुसार परम्पराओं की प्रभावशालीता तभी बनी रह सकती है, जबकि उन्हें परिस्थितियों के अनुसार संशोधित कर दिया जाये। जब परिवर्तन अर्थात् आधुनिक स्वरूपण की योजना को स्थानीय समस्या तथा वहा की परम्पराओं का अंग बना दिया जायेगा तो प्रत्येक देश की आधुनिकता के मापदण्ड भिन्न होंगे, जो कि वहां की परिस्थितियों पर आधारित होंगे और इन्हीं मापदण्डों को हम आधुनिकता के वास्तविक आधार कहेगे। फलतः सम्पूर्ण विश्व मे रूपान्तरण हेतु एक मापदण्ड या आधार खोजना गलत होगा।

अब हम समाजवादी व्यवस्था की प्राप्ति हेतु भारतीय सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों तथा मूल्यों के सन्दर्भ मे लोहिया ने क्या सुधार योजना प्रस्तुत की, उसे देखने का प्रयास करगे।

2. जाति-प्रथा

समाजशास्त्रियों द्वारा जातिप्रथा के उद्भव पर कई मत अपनाये गये हैं, किन्तु इनमे अधिकांश का मत है कि वर्णव्यवस्था की विकृत स्थिति का रूपान्तरण वर्तमान जातिप्रथा के रूप मे हुआ। लुई ड्यूमाँ के अनुसार, फलतः यह (जातिप्रथा) समाज को विभिन्न पैतृक वर्गों मे बाट देती है, जिसमें एक समुदाय दूसरे से तीन पक्षों मे जुड़ा होता है या उससे भिन्न होता है—प्रथम, सामाजिक सम्बन्धों–शादी-विवाह, खान-पान आदि मे पृथक्करण, द्वितीय, पैतृक आधार पर कार्य विभाजन, तृतीय, पदसोपानीय स्थिति, जिसमें एक समुदाय तुलनात्मक रूप से उच्च होता है तथा दूसरा निम्न।[2] जबकि लोहिया नें जातिप्रथा के उद्गम के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। उनके

1. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित) इलाहाबाद : लोकभारती, 1977, पृ. 90-91.
2. ड्यूमाँ, लुई : होमो हेरारकिक्स : एन एसेज ऑन द कास्ट सिस्टम, शिकागो : द युनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस, 1970, पृ. 21.

अनुसार समाज में बुद्धि, दौलत तथा स्थान के हिसाब से समूह तथा गिरोह बनते हैं। जिन्हें हम वर्ग की संज्ञा दे सकते हैं। इन वर्गों में आपस में संघर्ष तथा परिवर्तन होता रहता है। दूसरे शब्दों मे, एक वर्ग दूसरे वर्ग में बदलता रहता है। अतः वर्ग में गत्यात्मकता रहती है। किन्तु जब यह वर्ग स्थिर तथा जड़ हो जाता है, तो उसे जाति की संज्ञा देते हैं, अर्थात् वर्ग जड होकर जाति का स्थान ले लेता है। लोहिया के शब्दों में, "दौलत इत्यादि हिलते-डुलते है, पूरे वर्ग के लोग भी घटते-बढ़ते रहते हैं। यानी वर्ग चलायमान होता है। इसके विपरीत जाति मे आमदनी और स्थान बंध-सा जाता है। तबदीली नही होती। वर्ग में परिवर्तन और संघर्ष चलता रहता है। चलायमान जाति को वर्ग और जड वर्ग को जाति कहते हैं।"[1] लोहिया के अनुसार हालाकि सैद्धान्तिक रूप से जाति का निर्माण अच्छा ही होता है, क्योंकि जब वर्ग-संघर्ष बहुत तीव्र हो जाता है तो समाज का चलना दुष्कर हो जाता है। तब किसी आधार की खोज की जाती है, जिसमें वर्ग को अन्यायपूर्वक नही न्यायपूर्वक बांधकर रखने की कोशिश होती है। किन्तु जाति का निर्माण करने वाले स्वयं स्वार्थी हैं तो इसके नकारात्मक परिणाम निकलेंगे, क्योंकि इसके द्वारा बुद्धि तथा दौलत वाले वर्ग स्थायी रूप से उच्चता की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं तथा उनका हर प्रयास इस स्थिति को बनाये रखना होता है। उदाहरण के लिए हम रूस की साम्यवादी व्यवस्था, जर्मनी की हिटलरवादी व्यवस्था तथा भारत की ब्राह्मणवादी व्यवस्था को ले सकते हैं। अतः ऐसी स्थिति मे जाति निर्माण द्वारा सामाजिक कल्याण की कल्पना करना निरर्थक होगा। "वह आत्मा, जिससे कि ऐसे बुरे कर्म उपजते हैं, कभी भी न तो देश के कल्याण की योजना बना सकती है न ही खुशी से जोखिम उठा सकती है। वह हमेशा लाखों-करोडो को दबे और पिछडे बनाये रखेगी। जितना कि वह उन्हें आध्यात्मिक समानता से वंचित रखती है, उतना ही वह उन्हें सामाजिक और आर्थिक समानता से वंचित रखेगी।"[2] लोहिया के अनुसार वर्ग तथा जाति के रूपान्तरण का चक्र चलता रहता है, किन्तु भारत मे इसने गम्भीर रूप ले लिया है और इसमें स्थायी रूप से जड़ता व्याप्त हो गयी है। जिसके कारण सामाजिक सम्बन्धो पर व्यापक रूप से नकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

---

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 41.
2. वही, पृ. 2.

चूंकि अध्ययन का आग्रह जाति-प्रथा के उद्भव तथा उससे जुड़े विभिन्न विरोधाभासों का मूल्यांकन करना नहीं है। अतः हम सीधे वर्तमान मे जातिप्रथा के फलस्वरूप उत्पन्न नकारात्मक स्थिति तथा लोहिया द्वारा प्रस्तुत उसके समाधान हेतु सुझाये गये विकल्पों पर आते हैं। आज हमारे सामाजिक सम्बन्धो मे जाति[1] सबसे निर्णायक तत्व बन गयी है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक तथ्य जाति के घेरे में ही चलते हैं। कार्य का आधार जन्मगत मान लिया गया तथा कुछ कार्यों को उच्च तथा अन्य को निम्न स्थिति का स्वीकार किया। फलतः एक पदसोपानीय स्थिति का जन्म हुआ। "कुछ हुनर अन्य हुनरो से अविश्वसनीय ढंग से ऊंचे माने जाते हैं और उस सीढ़ी में खत्म न होने वाली सीढ़ियों का सिलसिला लगा हुआ है। निचले हुनर की जातियो को नीच माना जाता है। वे लगभग बेजान लोथ के रूप मे जम जाते हैं ··· ··· ··· जनता बेजान है, विशिष्ट वर्ग कपटी है। जाति ने ऐसा बना दिया है।"[2]

तथाकथित उच्च जातियों ने अपनी विशिष्ट भाषा, वेशभूषा, आचार और रहन-सहन के द्वारा, जिनके लिए छोटी जातियां अक्षम हैं, जनता के बहुसंख्यक भाग मे हीन भावना भर दी गयी। पिछले पन्द्रह सौ वर्षों से हमारे यहां की उच्च-जातियो ने जनता की भाषा से अलग भाषा का इस्तेमाल किया है, चाहे वह संस्कृत, अरबी, फारसी हो या अंग्रेजी हो। उनके कपड़े अलग किस्म के रहे तथा रहन-सहन की विशिष्ट आधुनिक शैली को अपनाया गया। अधिकांश गरीब जनता इस शैली को अपनाने में असमर्थ रही, फलतः उसमे निराश भावना जागृत हो गयी। इसी भावना ने उच्च-जातियों को अपना आधिपत्य स्थापित करने में सहयोग दिया। लोहिया के शब्दों मे, "मन पर सफल शासन के द्वारा, शासित और जनता में, निराशा और तकदीर से ही हीन होने की भावना भर कर शरीर पर शासन करना आसान हो गया है। जनता में विशिष्ट भाषा, भूषा और भवन की शैली का दबदबा होता है। वह अपने आपको हीन और जिसके पास ये विशिष्टतायें हैं, उन्हे ऊंचा समझने लगती हैं। जाति के तत्व के कारण इस समूची स्थिति से उबर पाना प्रायः निराशा-जनक है।"[3] जातिप्रथा के कारण देश की नब्बे प्रतिशत जनता को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अधीनस्थता की स्थिति मे ला दिया गया है। जाति

1. ध्यान रहे कि यहां अब हम जाति का अर्थ केवल जड़ता ग्रसित विकृत अर्थ में ही ले रहे हैं।
2. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 85.
3. वही, पृ. 125.

का मतलब होता है जनता को योग्यता से वंचित करना तथा हमेशा एकाधिपत्य की स्थिति को बनाये रखना, क्योंकि उच्च कार्यों–राजनीति तथा व्यापार–के लिए कुछ विशिष्ट योग्यता की जरूरत होती है और उसे खास जातियों तक ही सीमित कर दिया गया। फलतः नीची जातियों के लिए यह असंभव हो गया कि वे उन कार्यों का सम्पादन कर सकें।

देश की जनसंख्या में ऊंची जातियां बीस प्रतिशत स्थान रखती हैं। किन्तु राष्ट्रीय क्रियाकलापों के सभी महत्वपूर्ण विभागों–राजनीति, उच्च-प्रशासनिक नौकरियां, सेना, व्यापार आदि–में अस्सी प्रतिशत स्थानों पर जमी हुयी हैं। अतः जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक गतिविधियों से बाहर रह जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक हित-वृद्धि और सामाजिक पूर्णता की कल्पना नहीं कर सकते। "जब किसी राष्ट्र के मर्मस्थल के अस्सी प्रतिशत नेतृत्व को उसकी आबादी के बीस प्रतिशत में ही चुना जायेगा, तो निश्चय ही क्षय रोग की अवस्था आ जायेगी। उसकी अस्सी प्रतिशतआबादी अकर्मण्यता और अयोग्यता की अवस्था में पड़ जाती है।"[1] सामाजिक पूर्णता के अभाव में जनसंख्या का अधिकांश भाग सार्वजनिक कार्यों और देश की सुरक्षा आदि महत्वपूर्ण समस्याओं के प्रति उदासीन हो जाता है। इसी उदासीनता का एक नतीजा हम यह भी देख सकते हैं कि हमारा देश बार-बार विदेशी शासन के अधीन होता रहा। लोहिया का मानना है कि भारतवर्ष की हजारों वर्षों की दासता का कारण जातिप्रथा रही है, आन्तरिक झगड़े और छल-कपट आदि नहीं। जैसा कि रोमिला थापर ने लिखा है कि जातिप्रथा की कठोरता ही तुर्क और अफगान आक्रमणों की चुनौती का मुकाबला कर सकने में भारत की अक्षमता का एक महत्वपूर्ण कारण था।[2] लोहिया के अनुसार जब किसी देश में जाति के बंधन ढीले होते हैं, तब वह देश विदेशी आक्रमण के समक्ष नतमस्तक नहीं होता। वहां प्रत्येक व्यक्ति की अभिरूचि तथा दायित्व होता है कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु आवश्यक कार्यवाही करे।

एक तरफ जातिप्रथा द्वारा सामाजिक पूर्णता तथा आत्मअभिव्यक्ति की प्राप्ति असम्भव होती है तो दूसरी तरफ इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी बंधित हो जाती है। इस व्यवस्था द्वारा व्यक्ति बाध्य हो जाता है कि अपने

---

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 98.
2. थापर, रोमिला : (सम्पादित) साम्प्रदायिकता और इतिहास लेखन, नई दिल्ली : पी. पी. एच., 1970, पृ. 20.

व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों को जाति के दायरे में ही पूरे करे। इसका एक अन्य कारण यह भी रहा कि जाति के घेरे में व्यक्ति को सुरक्षा मिलती है तथा उसके बिना वह अपने आप को असहाय महसूस करता है। किन्तु इस सुरक्षा से भी अधिक व्यक्ति जाति द्वारा प्रतिबन्धित होता है। व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह जाति के कायदे कानून तथा रीति-रिवाजों को माने अन्यथा, जाति व्यक्ति को अपने घेरे से बाहर कर देती है, सामाजिक रूप से बहिष्कृत कर देती है। चूंकि नीची जाति का व्यक्ति आर्थिक, राजनीतिक तथा शिक्षा की दृष्टि से इतना समर्थ नहीं है कि वह जाति के घेरे से दूर अपना जीवन निर्वाह कर सके। अतः व्यक्ति अलगाव की स्थिति से बचने के लिए जाति में ही अपनी व्यक्तिगत, समाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्रियाकलापों को सम्पन्न करता है। लोहिया के शब्दों में, "जब जीवन की सभी बड़ी और व्यक्तिगत घटनाओं के अवसर पर लगातार मेलजोल होता है, तब उस चौखटे से बाहर अगर राजनीतिक घटनायें हों, तो कुछ हास्यास्पद ही होगा।......कोई समुदाय जो एक दूसरे के साथ ही पैदा होता है, शादी करता है, मरता है और दावत करता है, उससे और किस बात की आशा करनी चाहिये। रोजी कमाने और समान पेशे के इससे भी और ज्यादा निश्चयात्मक काम को मिलाकर काम करने की इस भयानक सूची में जोड़ना चाहिए। जहां एक माने में समान पेशा कुछ जातियों की निशानी नहीं रह गयी है, वहां भी बेरोजगारी के विरुद्ध अपनी ही जाति की अनौपचारिक, प्रायः लुजलुज और अनमनी, पर बीमे की शर्तिया योजना चलती रहती है।"[1]

एक तरफ व्यक्तिगत तथा दूसरी तरफ सामाजिक तथा राष्ट्रीय पूर्णता के अभाव में समाजवादी व्यवस्था का सृजन असंभव होगा। अतः आवश्यक हो जाता है कि इस दिशा में, जाति के अन्त हेतु, सुधार का प्रयास किया जाये, ताकि समानता तथा स्वतन्त्रता युक्त संरचना का निर्माण सम्भव हो सके। भारत में जाति प्रथा के अन्त हेतु मुख्यतः दो सुझाव सुझाये गये हैं। इनमें एक सुझाव मैक्स वेबर का है तथा दूसरा साम्यवादियों का। लोहिया के अनुसार ये दोनों सुझाव गलत मान्यता पर आधारित है, अतः इन्हें हम स्वीकार नहीं कर सकते। मैक्स वेबर[2] का मानना है कि जब भारतीय पाश्चात्य

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 84.
2. वेबर, मैक्स : द रिलीजन ऑव इंडिया, न्यूयार्क-लन्दन : मैकमिलन, 1958, पृ. 123-133.

विचारों तथा मूल्यों के सम्पर्क में आयेंगे, विशेषकर भारतीय विद्यार्थी यूरोप में जाकर शिक्षा ग्रहण करेंगे तथा वापिस आयेंगे, तो जातिप्रथा का अन्त करने में बढ़ावा देंगे। किन्तु लोहिया के अनुसार यूरोप मे पढ़ने गये विद्यार्थियों में पिच्यानवे प्रतिशत इनके लड़के-लड़कियां हैं, जिनकी सामाजिक हैसियत उच्च है, आर्थिक रूप से समृद्ध हैं तथा जिनमें पढ़ने-लिखने की परम्परा लम्बे समय से चली आ रही है। पहले से ही ऊंची जाति और जब विलायत से पास करके लौटते हैं तो ऊंची जाति मे भी एक अन्य ऊंची जाति की सीढ़ी बन जाती है। यानि "विलायत-पलट सुसंस्कृत बनिया या ब्राह्मण।" इस प्रकार यह सामाजिक गत्यात्मकता मे बढ़ावा न देकर सामाजिक जडता की तरफ बढाने वाला एक अन्य कदम होता है। लोहिया के अनुसार "जो विलायत पलट है उन्ही मे आपस में उठना बैठना, रोटी खाना, शादी-विवाह यह सब कुछ चलने लगता है। मैक्स वेबर जैसे बड़े समाजशास्त्री विद्वान् ने सोचा था कि हिन्दुस्तान मे अंग्रेजी और यूरोप के सम्पर्क से जातपात टूटेगी। पर हुआ क्या ? वह और मजबूत बन गयी। एक और ऊंची सीढी बन गयी और एक तबका कायम हो गया।"[1] द्वितीय, साम्यवादियो की मान्यता है कि अगर आर्थिक समता प्राप्त कर ली जाती है तो जाति प्रथा का स्वतः ही विघटन हो जायेगा। किन्तु लोहिया का मानना है कि समाज को हम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि टुकड़ो में बांटकर नही देख सकते। एक समस्या दूसरी से एकीकृत रूप से जुडी हुयी है, अतः सुधार तथा परिवर्तन की कोई भी योजना समग्रता मे ही देखी जा सकती है। "आर्थिक गैर-बराबरी और जातिप्रथा 'जुड़वा राक्षस' है और अगर एक से लड़ना है तो दूसरे से भी लड़ना जरूरी है।"[2] एक पक्षीय सुधार के कोई सार्थक परिणाम नही निकल सकते हैं। इस सन्दर्भ में एप्सटाइन का उल्लेख करना आवश्यक होगा। उन्होने मैसूर राज्य के दो गांवों का अध्ययन करके बताया कि एक गांव-वंगाला—मे सिंचाई के साधनों की उपलब्धता के कारण आर्थिक उन्नति की स्थिति आती है, किन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य वही बने रहते हैं, फलतः वही परम्परागत व्यवस्था–वंशानुगत स्वरूप, जमींदारी प्रथा, संयुक्त परिवार आदि–वैसे की वैसी बनी रहती है तथा आर्थिक समृद्धता का कोई महत्वपूर्ण परिणाम सामने नही आता। दूसरे गाव–डेलेना–मे आर्थिक परिवर्तन के साथ शैक्षणिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार की योजनायें भी साथ-साथ शुरू होती हैं, वहां व्यवस्था

---

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 109.
2. वही, पृ. 18

के मूल्य "गत्यात्मक" तथा "आधुनिक" हैं। अतः एप्सटाइन ने माना कि सामाजिक रूपान्तरण हेतु हमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि सभी तत्वों को समग्रता के आधार पर लेना चाहिये।[1]

इस प्रकार लोहिया ने जातिप्रथा मे सुधार की दोनो मान्यताओ को अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार यहां जातिप्रथा के फलस्वरूप जो स्थिति बन गयी है, उसमे सुधार के कुछ विशिष्ट प्रकार के तरीके ही उपयोगी हो सकते हैं। इस संदर्भ में उन्होने मुख्यतः चार उपाय—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक—सुझाये हैं।

सामाजिक प्रयास मे लोहिया ने एक तरफ सहभोज, विशेषकर गांवों मे तथा दूसरी तरफ अन्तर-जातीय-विवाह पर जोर दिया। लोहिया ने कहा कि कम से कम पन्द्रह दिन मे गांवो तथा मोहल्लों मे सहभोज का आयोजन किया जाना चाहिए। जिसमे छोटी-बड़ी सभी जातियां आवश्यक रूप से सम्मिलित हों। जहा तक अन्तर्जातीय विवाह का प्रश्न है, उससे लोहिया का तात्पर्य द्विज जातियों अर्थात् बनिये और ब्राह्मणो के बीच विवाह से नही है। उनके अनुसार ऐसे विवाह तो काफी आसानी से हो जाते हैं और जातिप्रथा के अग हैं, क्योकि बनिये-ब्राह्मणो के सम्बन्धो का ऐतिहासिक-गठबन्धन पीढी-दर-पीढी चला आ रहा है। अन्तर-जातीय विवाह से उनका तात्पर्य द्विज और शुद्र अर्थात् ब्राह्मण का भगिन से और भगी का ब्राह्मणी से विवाह से है। तब ही कही जाकर यह सम्भव हो पायेगा कि एक वर्ग दूसरे वर्ग की पूर्णता हेतु कार्य करे। "जब आप इस वृत्ति को अपना लेंगे तो यह कभी नही कहेगे कि शूद्रो का उत्थान केवल शूद्रो से ही हो सकता है। शूद्र और द्विज दोनो मुर्दा पडे हैं। शूद्रो को द्विज उठायेंगे और द्विजों को शूद्र।"[2] लोहिया का मानना है कि अगर सहभोज और अन्तर्जातीय-विवाह को सरकार कानूनन् लागू कर दे तो जाति प्रथा द्वारा उत्पन्न विडम्बनाओ से बहुत जल्दी छुटकारा मिल सकता है।

आर्थिक क्षेत्र मे, लोहिया का आग्रह था कि श्रमिक वर्ग की मजदूरी बढा दी जाये, साढे छः एकड़ खेती तथा अलाभकर जोत से लगान माफ कर दिया जाये। पिछड़े समुदाय के विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियो तथा छात्रा-

---

1. एप्सटाइन, टी. एस : इकोनोमिक डवेलपमेंट एण्ड सोशल चेंज इन साउथ इण्डिया, बोम्बे : ऑक्सफोर्ड 1966, पृ. 312.
2. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ 19.

वासो की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। सभी प्राथमिक स्तर के स्कूल एक जैसे हों तथा पब्लिक स्कूलों को पूर्णतः बन्द कर दिया जाये। लोहिया के अनुसार नीची जातियों को आर्थिक रूप से कम से कम इतना सक्षम तो बनाया ही जाना चाहिए कि अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। तभी सम्भव होगा कि उनमे आत्मसम्मान तथा आत्मगौरव की कुछ भावना जग सके।

राजनीतिक दृष्टि से लोहिया ने प्रत्यक्ष चुनाव, वयस्क मताधिकार और विशेष अवसर के सिद्धान्त की आवश्यकता पर बल दिया। वयस्क मताधिकार तथा प्रत्यक्ष चुनाव के सम्बन्ध में लोहिया का मत है कि "जैसे-जैसे यह वयस्क-मताधिकार चलता रहेगा, चुनाव चलते रहेंगे, वैसे-वैसे जाति का ढीलापन बढता रहेगा।"[1] चूंकि नीची जातिया संख्या में अधिक हैं। अतः वयस्क मताधिकार के आधार पर धीरे-धीरे वे स्वतः राजनीतिक रूप से ऊपर आ जायेंगी। जहां तक विशेष अवसर के सिद्धान्त का प्रश्न है, लोहिया ने कहा कि फ्रांसीसी क्रान्ति के अग्रज तथा साम्यवादी क्रान्ति के मार्गदाताओं का समान अवसर के सिद्धान्त के प्रति गहरा आग्रह रहा। समान अवसर के सिद्धान्त को एक प्रगतिशील तथा सामाजिक दृष्टि से गत्यात्मक धारणा के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु लोहिया के अनुसार हमारी परिस्थिति यूरोप से भिन्न है। यूरोप में हमारी जैसी जात-पांत की कोई समस्या नही थी। अतः यहां की परिस्थिति में समान अवसर के सिद्धान्त द्वारा कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही कर सकते। कई वर्षों की परम्परा तथा प्रशिक्षण, भाषा तथा व्याकरण, मेल-जोल तथा सौदेबाजी की क्षमता द्वारा ऊंची जातियों ने सभी तरह की योग्यता विकसित कर ली है। अतः समान आधार पर योग्यतानुसार अवसर की प्रतियोगिता में ऊंची जातिया ही आगे आयेंगी। लोहिया के शब्दो मे, "यूरोपियो के लिए समान अवसर क्रान्तिकारी था, क्योंकि उनमें जातपात नही थी। हमारे लिए समान अवसर का मतलब क्रान्तिकारी नहीं होता, क्योंकि हमारे अन्दर जात-पांत है। इसलिये जात-पांत वाले समाज में समान अवसर का मतलब होगा कि जो ऊंची जाति वाले हैं, जिनके कई हजार बरस से विद्या आदि के संस्कार हैं, उनको अवसर खूब मिलता चला जायेगा, और बाकी लोग पिछड़ते चले जायेंगे।"[2] अतः लोहिया के अनुसार छोटी जातियों को उठाने हेतु विशेष प्रकार का सहारा देने की जरुरत है। दूसरे शब्दो में लोहिया

1. लोहिया : निराशा के कर्त्तव्य, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 29.
2. वही, पृ 30.

ने हिन्दुस्तान की जनता की योग्यता को पुनर्जीवित करने हेतु विशेष अवसर के सिद्धान्त को ही एकमात्र इलाज माना, ताकि देश की अस्सी प्रतिशत दबी जनता को साठ प्रतिशत ऊंची जगहें मिल सकें। लोहिया ने विशेष अवसर के इस कोटा हेतु संवैधानिक तथा वैधानिक गारन्टी प्रदान करने पर भी जोर दिया।[1]

लोहिया के अनुसार विशेष अवसर के सिद्धान्त के द्वारा ही देश की सम्पूर्ण जनता आगे बढ सकती है तथा समाज और राष्ट्र आत्मपूर्णता को प्राप्त कर सकता है। कुछ लोगों का यह तर्क रहा है कि अगर पिछड़े वर्ग के व्यक्तियों को देश की साठ प्रतिशत ऊंची जगह दे दी गयी तो राष्ट्र का सचालन कुशलता तथा सक्षमता से नहीं हो पायेगा और अन्ततः अराजकता की स्थिति आ जायेगी। लोहिया ने इस तर्क को अस्वीकार करते हुए कहा कि प्रथमतः, पिछड़े वर्ग को प्रशासन करने का अवसर दिये बिना ही उनमे कुशलता की आशा करना व्यर्थ होगा। प्रशासन की बागडोर हाथ में आने पर हो सकता है कुछ व्यक्ति अयोग्य साबित हों, किन्तु अन्ततः उनमें वे सभी गुण विकसित हो जायेंगे, जो उसके लिए आवश्यक होते हैं। "हो सकता है सौ को बैठायेंगे, तो उनमे से 60-70 निकम्मे निकलेंगे। लेकिन जो 30 अच्छे निकलेंगे, वे सारे समाज मे एक इतनी जबर्दस्त हलचल पैदा करेंगे कि जैसे आटे मे खमीर मिलते हैं, वैसे सारे समाज को पुनर्जीवित कर देंगे।"[2] द्वितीय, जब पिछड़े वर्ग के लोगों को अधिकार सुपुर्द कर दिये जायेंगे तो उनमें एक प्रकार की जागरूकता पनपेगी तथा वे योग्य बनने कोशिश करेंगे।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में विशेष संरक्षण का सिद्धान्त सर्वप्रथम गांधीजी ने रखा था। किन्तु गांधीजी और लोहिया की इस योजना में तात्विक अन्तर देखते हैं। गांधीजी ने यह संरक्षण केवलमात्र अछूत वर्ग, हरिजन तक ही सीमित रखा, जबकि लोहिया ने इसमे समस्त पिछड़े समुदाय को लिया है। अतः लोहिया की योजना गांधीजी से कहीं ज्यादा व्यापक है। लोहिया के अनुसार भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या को हम तीन भागों में बांट सकते हैं—सात करोड़ द्विज या जनेऊधारी, पांच करोड़ हरिजन या अछूत और सत्रह करोड शूद्र। इस प्रकार जनसंख्या का अधिकांश भाग शूद्र समुदाय का है। अतः जब तक शूद्र समुदाय को नहीं उठाया जायेगा, तब तक सम्पूर्ण

1. लोहिया ने विशिष्ट प्रकार के तकनीकी कार्यों–शल्य चिकित्सा जैसे–के लिये विशेष अवसर के सिद्धान्त को लागू करने की स्वीकृति नहीं दी है।
2. लोहिया : निराश के कर्तव्य, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 30.

समाज की उन्नति होना असम्भव है। फलतः शूद्र और हरिजन या पिछड़ी जातियां और हरिजन, इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए हमें सोचना चाहिए। केवल हरिजनों को ही इसका विषय नहीं बनाना चाहिये। साथ ही लोहिया का यह भी मानना था कि पिछड़ी जातियों की समस्या हरिजनो से कही ज्यादा बद्तर है। "हरिजनो का मामला कई कारणों से इतना गम्भीर नही है। लेकिन धोबी, तेली, कहार, कुम्हार, कुनबी, अहीर इत्यादि जो अछूत नहीं है, बुरे चक्कर मे फंसे हैं। न तो अंग्रेज ने ही इन्हे पार्लियामेंट आदि का विशेष सरक्षण दिया न महात्मा गाधी ने ही अलग से इनका रुतबा बढाया।"[1] इस प्रकार लोहिया ने विशेष अवसर-संरक्षण सिद्धान्त-को न केवल हरिजन समुदाय तक सीमित रखा वरन् उन्होने इसे गरीब तबके के सभी वर्गों पर लागू करने का आग्रह किया। शूद्र समुदाय की अभिवृद्धि हेतु विवेकानन्द ने भी आवाज बुलन्द की है। विवेकानन्द का मानना है कि मानव समाज का शासन क्रमशः एक-दूसरे के बाद चार जातियों द्वारा हुआ करता है। तीन उच्च जातियां–पुरोहित, योद्धा तथा व्यापारी–ने अपने दिन भोग लिये हैं, अब चौथी अर्थात् शूद्र जाति का समय आ गया है।[2] आने वाले समय में समाजवाद प्रत्येक समाज मे शूद्रों का पूर्ण आधिपत्य स्थापित करेगा।[3] किन्तु विवेकानन्द और लोहिया की मान्यता में प्रमुख अन्तर यह है कि विवेकानन्द हर सम्भव रूप से, जाति के गुणात्मक परिवर्तन के साथ, वर्ण व्यवस्था को एक सस्था के रूप मे बनाये रखने के पक्षपाती हैं। दूसरे शब्दो में विवेकानन्द जातिप्रथा से नकारात्मक तत्वों को दूर करना चाहते हैं, किन्तु जातिप्रथा का अन्त नही, जबकि दूसरी तरफ लोहिया का प्रयास अन्ततः जाति का नाश करना रहा। लोहिया का मानना है कि जातिप्रथा का किसी भी रूप में प्रचलन रहा तो उससे समानता तथा स्वतत्रतायुक्त व्यवस्था स्थापित नही हो सकती।

जातिप्रथा मे सुधार हेतु लोहिया ने अन्तिम उपाय धार्मिक रखा है। उनके अनुसार धार्मिक ग्रन्थों मे इस प्रकार के स्रोत खोजे जायें, जिनसे हम यह सिद्ध कर सकें कि जातिप्रथा हमारी समाज व्यवस्था का अग नही है। हमारे यहा समाज सुधार के क्षेत्र मे, इस पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग स्वामी दयानन्द ने किया। उनकी समाज सुधार की सम्पूर्ण मान्यता "वेदों की तरफ

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 18.
2. विवेकानन्द : कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म, मायावती : अद्वैत आश्रम, 1947, पृ. 91-92.
3. वही, पृ. 89.

लौट चलो" के आग्रह पर ही रही। उनके अनुसार वेद ही सम्पूर्ण सामाजिक समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। साथ ही, महादेव गोविन्द रानाड़े ने भी समाज सुधार हेतु इस पद्धति को अपनाया। किन्तु रानाड़े ने दयानन्द से भिन्न अन्य पद्धतियों–अन्तःकरण के जागरण हेतु अपील, बाध्यकारी आदेशों से समर्पित कानून तथा विद्रोह की पद्धति–की तुलना में इसकी सार्थकता को सीमित माना।[1] जहां तक लोहिया का प्रश्न है, उन्होने भी रानाडे की भांति इस पद्धति के क्षेत्र को सीमित ही माना, क्योंकि, प्रथमतः, धार्मिक शास्त्रो मे जाति को तोडने वाले कुछ सूत्र हैं तो उन्ही में जाति को बांधने तथा मजबूत करने वाले स्रोत भी पाये जाते हैं। द्वितीय, इस पद्धति द्वारा सुधार करने वाले लोगों का दृष्टिकोण बहुत सीमित होता है। वे अपनी सुधार पद्धति को केवलमात्र धार्मिक तथा पौराणिक घेरे तक ही सीमित रखते हैं। व्यावहारिक कार्यक्रम के विभिन्न मुद्दों–सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक–से वे पूर्णतः दूर रहते हैं। अतः लोहिया ने माना कि धार्मिक पद्धति अन्य सुधार पद्धतियों के साथ ही अपना कुछ योगदान दे सकती हैं। लोहिया के शब्दो मे, "यह पौराणिक और शास्त्रीय बहस 100 मिनट में कुल 10 मिनट की होनी चाहिये। एक गलती तो यह रही कि पुरानी परम्परा के अनुसार यह बहुत ज्यादा वक्त ले लेती है। और दूसरे, शास्त्र के आधार को ही खत्म करने वाली बहस है ………समाजवादी………इस बहस को कम समय देकर दूसरे जो अंग हैं, सामाजिक–राजकीय उनको पूरी जगह दें।"[2]

व्यावहारिक रूप से सुधार की इन चारों पद्धतियों को कार्यात्मक रूप से लागू करने के साथ ही लोहिया ने जातिप्रथा के अन्त के लिए सतत् प्रयास करने हेतु एक सस्था–"जातिप्रथा अध्ययन और विनाश संघ"–बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस संघ की गतिविधियां सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र–सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा धार्मिक–मे लागू होगी तथा वह अपने अध्ययन केन्द्रों पर विभिन्न प्रकार की सभाओ, परिसंवादो तथा वाद-विवादों के द्वारा, हमारी संस्कृति, विचारो और जीवन के उन तत्वों को निरूपित तथा उजागर करने का प्रयास करें, जिसकी वजह से जड़तायुक्त

---

1. द मिसिलेनियस राइटिंग्स ऑव एम. जी. रानाडे, (श्रीमती रामबाई रानाड़े द्वारा प्रकाशित) बम्बई : द मनोरंजन प्रेस, 1915, पृ. 112–13.
2. लोहिया : निराशा के कर्त्तव्य, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 31.

जातिप्रथा का प्रचलन हुआ। इस प्रकार इन अध्ययन केन्द्रों द्वारा जनता को मानसिक रूप से जातिप्रथा के अन्त हेतु तैयार करना चाहिये।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि लोहिया एक वर्ग की कीमत पर दूसरे वर्ग की उन्नति कदापि नही चाहते थे। उनका प्रयास तो एक समता तथा स्वतन्त्रतायुक्त व्यवस्था का सृजन करना रहा, जिसमे—व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र—सभी को आत्मपूर्णता तथा आत्मवृद्धि का अवसर मिल सके। "जाति पर हमले का मतलब होना चाहिए सबकी उन्नति न कि सिर्फ किसी एक तबके की उन्नति। एक ही तबके की उन्नति से जातिप्रथा के अन्दर कुछ रिश्ते परिवर्तित होते हैं, किन्तु जातियो के आधार में कोई बदलाव नही आता।"[1] सामाजिक पूर्णता की दृष्टि से ही लोहिया ने पिछड़े वर्ग को विभिन्न प्रकार की सुविधायें देने के उपरान्त भी कुछ सावधानियां बरतने के लिए आग्रह किया है। प्रथम, विशेष सरक्षण द्वारा जो व्यक्ति ऊपर आये, उन्हे कदापि उच्च जातियों के दुर्गुण नही सीखने चाहिए। लोहिया के अनुसार प्रायः यह देखा गया है कि ऊंची जगहो पर पहुचने के बाद नीची जातियो के व्यक्ति भी उसी तरह की मनोवृत्ति तथा रहन-सहन के तरीके अपना लेते हैं, जो कि ऊंची जातियो के परम्परागत लक्षण होते हैं। फलतः समाज मे उन्नत तथा पिछड़े वर्ग की खायी बनी की बनी रहती है। लोहिया के शब्दों मे, "इस सबसे भेदभाव जारी रखने का एक और नतीजा निकाला है। इसके अलावा इस तरह की उन्नति से नीची जातियों के बीच कोई गरमी नही आती। जो उन्नत हो जाते है वे अपने ही समुदाय से अलग हो जाते हैं, अपने ही मूल के नीचे समुदायो को गरमाने की बजाय वे जिन जगहों पर पहुँचते हैं, वहा की ऊंची जातियों का अंग बन जाने की कोशिश करते हैं।"[2] अतः लोहिया के अनुसार पिछड़ी जातियों के उच्च पदो पर पहुँचे लोगों को हर संभव यह प्रयास करना चाहिए कि समाज मे समानता बनी रहे तथा वे पूरे समाज को साथ लेकर पूर्णता की तरफ आगे बढ़े। द्वितीय, पिछड़े वर्ग के लोगो को अपनी वर्तमान स्थिति के कारण द्विजो के विरुद्ध जलन या प्रतिशोध से कार्य नही करना चाहिए। लोहिया ने शूद्रो द्वारा द्विजों के धर्मग्रन्थ तथा अन्य प्रतीको को जलाये जाने की आलोचना करते हुए कहा कि शूद्रों के इन प्रयासों से कदापि सामाजिक पूर्णता तथा समानता प्राप्त नही हो सकती। इस प्रवृत्ति के कारण समाज के वर्गों में टकराहट होने की संभावनायें बढ जाती हैं। अतः उनका

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 101.
2. वही.

आग्रह है कि दोनों वर्ग सह-अस्तित्व के आधार पर एक दूसरे के विकास हेतु कार्य करें। तभी समाज का पुनः निर्माण हो सकता है। लोहिया के अनुसार, "मानव जाति की महान् कुंठाली में आस्था और समूची हिन्दुस्तानी जनता के पौरुष मे उतनी ही आस्था के साथ ऊंची जाति को परम्परा और जनता का मेल करने के लिए तैयार होना चाहिए। इसके साथ ही साथ, नीची जातियों के युवजन के कन्धे पर अब भारी बोझ आ जाता है।...... उन्हें ऊंची जातियों की सभी परम्पराओं और शिष्टाचारों का स्वांग नही रचना है, ...व्यक्ति की स्वार्थोन्नति नही करनी है, तीखी जलन में नही पड़ना है, बल्कि यह समझ कर कि वे कोई पवित्र काम कर रहे हैं, उन्हे राष्ट्र के नेतृत्व का भार वहन करना है।"[1] तृतीय, लोहिया ने विशेष अवसर के सिद्धान्त को शाश्वत सिद्धान्त के रूप मे नही स्वीकार किया। उनके अनुसार यह सिद्धान्त उसी समय तक प्रभावी रहना चाहिए, जब तक कि समाज में पदसोपानीय स्थिति है। जब समाज समानता की स्थिति मे आ जायेगा तो इस सिद्धान्त को वापिस ले लेना चाहिए। लोहिया द्वारा प्रस्तुत किये गये ये प्रावधान सिद्ध करते हैं कि उन्होने जातिप्रथा में सुधार की योजना सामाजिक पूर्णता हेतु ही रखी। अतः यह कहना पूर्णतः गलत होगा कि लोहिया ने यह योजना समाज के किसी वर्ग के प्रति पूर्वाग्रहता के कारण रखी। उनका तो केवलमात्र इस हेतु प्रयास था कि व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को समाजिक रूप से समानता तथा स्वतन्त्रता प्राप्त हो, ताकि वे अपनी पूर्णता की प्राप्ति कर सकें।

दुबारा यह प्रश्न उठाना वांछनीय होगा कि लोहिया ने सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता का जो दार्शनिक तथा वैचारिक आधार रखा, क्या उसमे तथा उनकी सामाजिक सुधार योजना—जाति सुधारयोजना—में सातत्य बना रहता है। जैसाकि हमने पिछले पृष्ठों मे विवेचन किया है कि जातिप्रथा सामाजिक पूर्णता में एक बाधक तत्व रही है। इसके फलस्वरूप समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को अपनी पूर्णता का अवसर ही प्राप्त नही हो पाता। अतः लोहिया ने अपनी सामाजिक सुधार योजना द्वारा उन प्रावधानों को सुझाया, जिन्हें अपना कर हम समाजवादी व्यवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। लोहिया का हर सभव प्रयास सम्पूर्ण समाज की समग्र रूप से उन्नति करना रहा। इसी कारण उन्होंने माना कि जब हम पदसोपानीय स्थिति का अन्त कर देंगे तथा समानता-युक्त स्थिति में आ जायेंगे, अर्थात् "संभव समानता" से "सम्पूर्ण समानता"

---

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 104.

को प्राप्त कर लेंगे, तो निम्न वर्गों को प्रदान की गयी विशेष रियायतें बन्द करदी जायेंगी। लोहिया सामाजिक सुधार योजना द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता के मूल्यों को व्यवहारिक रूप से प्रकटीकरण हेतु सभी आधार प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि लोहिया के दार्शनिक मूल्यों तथा समाज सुधार योजना में सैद्धान्तिक स्तर पर सातत्यता बनी रहती है। सैद्धान्तिक स्तर पर लोहिया की समाज सुधार योजना में हम कही भी ऐसे तत्व नहीं ढूंढ सकते जहां उनके सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता के आदर्श को धक्का लगा हो।

सामान्यतः यह तर्क दिया जाता है कि जब लोहिया की समाज सुधार की नीति इतनी प्रभावक थी तो भारत मे समाजवादी पार्टी तथा समाजवादी आन्दोलन लगभग खत्म क्यों हो गया। किन्तु इस संदर्भ में नीति के स्तर पर लोहिया की असफलता नहीं है वरन् समाजवादी पार्टी के विघटन को हम स्वयं लोहिया की मान्यता द्वारा समझ सकते हैं। व्यावहारिक रूप से समाजवादी पार्टी ने उन्ही मान्यताओं और मूल्यों को अपनाया, जिनको कि लोहिया ने अपनी आलोचना का केन्द्र बिन्दु बनाया था। समाजवादी पार्टी के विघटन का सबसे प्रमुख कारण यह रहा कि इसका नेतृत्व हमेशा समाज के उच्च वर्ग के हाथ मे रहा। इस वर्ग ने नेतृत्व को व्यापक आधार नही दिया अर्थात् नेतृत्व के घेरे मे पिछड़े वर्ग को आने नही दिया गया। बिहार और उत्तर प्रदेश में, जहां समाजवादी आन्दोलन का सबसे ज्यादा जोर रहा, समाजवादियों के प्रयास द्वारा पिछड़े वर्ग—अहीर, कुर्मी, कुम्हार, कुनबी, नाई आदि—मे जागृति आयी, किन्तु जब इस वर्ग ने नेतृत्व प्राप्ति की कोशिश की तो उन्हें सफलता नहीं मिली। इन प्रान्तों में कुछ मौके ऐसे आये, जब मुख्यमंत्री बनाने के प्रश्न पर समाजवादी पार्टी के अग्रजों ने नेतृत्व पिछड़े वर्ग को देने की बजाय उच्च वर्ग को प्रदान किया। इसके दो नकारात्मक परिणाम सामने आये। प्रथम, उच्च सामाजिक स्थितियुक्त समाजवादी नेतृत्व की पिछड़े वर्ग की उन्नति की पुकार उन्हे कृत्रिम लगने लगी। द्वितीय, इस वर्ग के लोगों ने सत्ता प्राप्ति के प्रयास मे समाजवादी दल छोड़कर दूसरे दलों, विशेषकर कांग्रेस मे जाना शुरू कर दिया। चूंकि कोई भी आन्दोलन या तो विचारधारा तथा सैद्धान्तिक सशक्तता के आधार पर जीवित रह सकता है या शासन सत्ता की बागडोर से। जबकि समाजवादी पार्टी इन दोनों ही आधारो पर असफल रही। विचारधारा के आधार पर लोहिया ने जिस मुद्दे पर सबसे ज्यादा जोर दिया, समाजवादी पार्टी ने उसे ही छोड़ दिया, अर्थात् लोहिया का आग्रह रहा कि समाज सुधार का उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्ग को आगे लाना तथा उन्हें

नेतृत्व प्रदान करना है, ताकि सम्पूर्ण समाज की उन्नति संभव हो सके। लोहिया की आलोचना का विन्दु ही यही रहा कि सामाजिक उच्चता प्राप्त वर्ग निम्न वर्ग को किसी प्रकार का अवसर दिये बिना उसके समर्थन से अपनी स्वार्थपूर्ति में लगा रहता है। चूंकि समाजवादी पार्टी ने भी यह सब कुछ अपनाना शुरू कर दिया। अतः विचारधारा के आधार पर समाजवादी खोखले लगने लगे। जहां तक शासन सत्ता की बागडोर का सवाल है, एक तरफ, एक–दो प्रान्त में अल्प समय को छोड़कर समाजवादियो के हाथ मे शासन सत्ता नही रही। अतः उन्हे अपनी नीति का क्रियात्मक आधार पर प्रकटीकरण का मौका नहीं मिला। दूसरी तरफ, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं कि कुछ समाजवादियों मे शासन-सत्ता की इतनी भूख रही कि वे उसकी प्राप्ति के लिए अपने मूल्यों से ही समझौता कर बैठे। अतः समाजवादी पार्टी के विघटन के संदर्भ में यह कहना किसी हद तक सही होगा कि पार्टी ने लोहिया द्वारा सुझाये गये आधारो तथा मूल्यो को छोड दिया, जिसका ही परिणाम है कि समाजवादी आन्दोलन लगभग खत्म सा हो गया है।

समाजसुधार के संदर्भ मे, लोहिया का एक अन्य उल्लेखनीय योगदान यह रहा है कि उन्होने सामाजिक परिवर्तन के साधनो का समग्रता मे मूल्यांकन किया। सामान्यतः वर्तमान सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हेतु एक कारक को ही महत्वपूर्ण मान लिया जाता है तथा सामाजिक जीवन के अन्य तत्वो की उपेक्षा करते हुए, अपनी सामाजिक सुधार पद्धति केवल इसी कारक के आधार पर बनायी जाती है। किन्तु लोहिया ने माना कि समाजसुधार के किसी भी कारक की एकाकी रूप से कोई प्रासंगिकता नही है, क्योंकि सामाजिक जीवन को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि टुकडो मे बांटकर नहीं देख सकते। समाज तो इन सभी तत्वों का समग्र रूप है, जिसमें सभी कारकों की समान भूमिका होती है। अतः समाज के किसी एक कारक को लेकर सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन या सुधार की आकांक्षा करना गलत होगा। यहां हम दुबारा एप्सटाइन को उद्धृत करना चाहेंगे। उनके अनुसार अर्थशास्त्री उत्पादन, वितरण, आय, व्यय आदि पर, समाजशास्त्री परिवार, जाति तथा सामाजिक सगठनो पर और राजनीतिशास्त्री राजनीति प्रक्रिया में सहभागिता के प्रतिशत पर ध्यान केन्द्रित करके परिवर्तन की बात किया करते हैं, किन्तु इससे परिवर्तन की समग्र प्रक्रिया का अध्ययन नहीं कर सकते। उनके स्वयं के शब्दो में : "सामाजिक विद्वानो के प्रत्येक विषय, सामाजिक सम्बन्धों के किसी खास पक्ष के अध्ययन मे विशिष्टता प्राप्त करते हैं तथा अपनी सीमाओ मे आने वाली समस्याओ को दूर करने हेतु साधनों को विकसित कर लिया

जाता है। किन्तु ये विभिन्न पक्ष स्वतन्त्र नही हैं : वे एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। ग्रतः समस्याग्रों को किसी एक विषय के घेरे में पर्याप्त रूप से विश्लेषित नहीं कर सकते हैं।"[1] लोहिया का यह मानना सही था कि परम्परागत मूल्यो में किसी एक कारक द्वारा परिवर्तन या सुधार का प्रयास निरर्थक होगा। चाहे वह कारक मैक्स वैबर के ग्रनुसार पाश्चात्य शिक्षा की वृद्धि हो, या समाजवादियो द्वारा रखी गयी ग्राथिक समृद्धता की मान्यता, या जिलास की भौतिक प्रचुरता की स्थिति, या विनोबा भावे की न्यूनतम की कल्पना हो। जिलास तथा विनोवा की मान्यताग्रों का इसी ग्रध्याय मे ग्रागे चलकर विवेचन किया जायेगा। प्रत्येक पक्ष एक दूसरे से निकटता से जुड़ा हुग्रा है। एक सामाजिक बुराई दूसरी ग्रन्य सामाजिक बुराइयो की जड़ सीचती है। ग्रतः एक बुराई का समाधान करके यह कल्पना करना कि उससे सभी ग्रन्य बुराइया स्वतः नष्ट हो जायेंगी, गलत है, बल्कि उल्टे इसके नकारात्मक परिणाम सामने ग्रायेंगे। उदाहरण के लिए, जातिप्रथा के वर्तमान मे प्रचलित सामाजिक मूल्यो मे ग्राथिक रूप से ग्रगर उन्नति हुयी भी तो उसका लाभ उन्ही को मिल पायेगा जो सामाजिक रूप से पदसोपानीय स्थिति मे उच्चता प्राप्त किये हुए हैं, क्योकि ग्राय के सम्पूर्ण साधनों का नियन्त्रण वे ही करते है। फलतः ग्राथिक उन्नति समाज को नयी दिशा देने मे ग्रसमर्थ होगी। या मान लो दूसरी तरफ ग्रगर ग्रछूत या पिछड़े वर्ग की ग्राथिक उन्नति हो जाती है, किन्तु सामाजिक उच्चता की वही पदसोपानीय स्थिति बनी रहती है तो उससे भी समाज के मूल्यों मे परिवर्तन नही ग्रा सकता। व्यावहारिक रूप से, ग्रामीण इलाकों में ग्रछूत वर्ग के कुछ व्यक्ति ग्राथिक तथा शैक्षणिक स्तर पर ब्राह्मणो तथा क्षत्रियों से उच्च है, किन्तु सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन न होने के कारण मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते तथा सार्वजनिक कुग्रो से पानी नहीं भर सकते। ग्रतः ऐसी स्थिति मे सामाजिक जीवन के सभी पक्षों की समग्रतायुक्त सुधार पद्धति ही सार्थक हो सकती है। लोहिया ने ग्रपने सुधारवादी ग्राग्रह मे इसी समग्रतायुक्त सुधार पद्धति को ग्रपनाया है। ग्रतः हम लोहिया का यह उल्लेखनीय योगदान मानते हैं।

3. नारी

जाति की भांति भारतीय समाज मे नारी की दासता एक ग्रन्य कटघरा है, जो कि समाजवादी व्यवस्था की पूर्णता में व्यवधान है। लोहिया के ग्रनुसार

---

1. एप्सटाइन, टी. एस. : इकोनोमिक डवेलपमेंट एण्ड सोशल चैंज इन साउथ इण्डिया, बोम्बे : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ. 2.

हमारा समाज पुरुष उच्चता पर आधारित है, जहां दृष्टिकोण, विचार तथा संस्थायें सभी नारी की अधीनता को प्रमाणित करते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, अधीनता और असमानता की स्थिति में समाजवादी व्यवस्था की प्राप्ति असंभव है। लोहिया के शब्दों में, "एक समाजवादी आन्दोलन नारी की सक्रिय भागीदारी बिना वैसे ही है जैसे बिना वधू विवाह।"[1] अतः आवश्यक कि है कुछ विकल्प निर्धारण का प्रयास किया जाये।

हमारे यहां पतिव्रता की अवधारणा को सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है। समाज ऐसी औरत–सावित्री—को आदर्श के रूप में स्वीकार करता है जो शरीर, मन और आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक एक पति के साथ जुड़ गयी है। किन्तु यह अवधारणा पूर्णतः औरत की अधीनता को प्रमाणित करती है, क्योंकि पतिव्रता की अवधारणा में औरत का अपने पति के प्रति सम्पूर्ण समर्पण होना है, जबकि इस अवधारणा की परिकल्पना में पति को पत्नी के प्रति समर्पण की भावना से दूर रखा गया है। इसी कारण हमारे यहां इस अवधारणा के समानान्तर पत्नीव्रता की कोई मान्यता नहीं ह, जिससे कि समाज मे सन्तुलन तथा समानता की स्थिति बनी रहे। लोहिया के शब्दों में, "हिन्दू किंवदन्ती में ऐसी पतिव्रता का किस्सा मौजूद है कि जो यम के हाथों से अपने पति को छुड़ा लाए, तो कोई किस्सा हमको ऐसा भी बताओ, किसी पत्नीव्रत का कि जो अपनी औरत के मर जाने पर यम के हाथों से उसको छुड़ाकर लाया हो और फिर से उसको जिलाया हो। आखिर मजा तो तभी आता है जब ऐसा किस्सा दुतरफा होता है। जाहिर है कि कोई किस्सा ऐसा है नहीं। और कम से कम एक ऐसे आदमी के सामने जो नये संसार में बराबरी के आधार पर कुछ रचना करना चाहता है.......*हिन्दुस्तानी दिमाग* में उस औरत की कितनी जबरदस्त कदर है कि जो अपने पति के साथ शरीर, मन और आत्मा से जुड़ी हुई है और वह पतिव्रता या पतिव्रत धर्म का प्रतीक बन सकती है। इसके विपरीत, मर्द का औरत के प्रति उसी तरह का, कोई श्रद्धा, *भक्ति या प्रेम या अटूट प्रेम, ऐसा प्रेम कि जन्मान्तर से चलता रहता है,* उसका किस्सा नहीं है।"[2] लोहिया के अनुसार सवाल यह नहीं कि किसी पत्नी का अपने पति के प्रति लगाव तथा समर्पण न हो, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या इससे समानता की स्थिति कायम होती है। उनके अनुसार पुरुष-औरत में समानता तभी कायम हो सकती है कि जिस प्रकार पत्नी का पति के प्रति

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 350
2. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 159-60.

समर्पण होता है, उसी प्रकार पति का भी पत्नी के प्रति समर्पण होना चाहिए ।

फ्रेन्च विचारक सिमोन-द-बोव्वार[1] के अनुसार पुरुष नारी को अपने पूर्णतः कब्जे में रखना चाहता है, साथ ही वह यह भी चाहता है कि नारी, सजीव, चतुर और तेज हो, ताकि ऐसा कब्जा मजेदार बन सके । लोहिया ने सिमोन से पूर्णतः सैद्धान्तिक सहमतता व्यक्त की है और उन्होंने ऐसे कब्जे को "चुलबुला कब्जा" की संज्ञा दी है । उनके शब्दों में "अधीन वस्तु सजीव और स्वतन्त्र है, यह है नर दिमाग की विडम्बना । और सिमोन का कहना बिल्कुल सही है ।"[2] लोहिया के अनुसार ये दोनों स्थिति विरोधात्मक हैं, इन्हें एक साथ कदापि प्राप्त नहीं कर सकते । अगर नारी को हमें तेज, चपल तथा चतुर बनाना है तो आवश्यक है कि उसे पुरुष के समान तथा स्वतन्त्र बनाया जाये । केवल ऐसी स्थिति में ही नर-नारी के बीच सह-सम्बन्धता कायम हो सकती है, अर्थात् नर-नारी का स्नेहमय बन्धन बराबरी की नींव पर ही हो सकता है ।

लोहिया के अनुसार हमारे यहां नैतिकता का दोहरा मापदण्ड पाया जाता है--एक पुरुषों के लिए, दूसरा औरतों के लिए । पुरुष को प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्रता दी गयी है, जबकि औरत को पुराने रीति-रिवाजों तथा सामाजिक व्यवहार के नियमों की बन्दी बनाया गया है । फलतः पुरुष और औरत के बीच असमानता तथा गैर-बराबरी पैदा हो जाती है, जो कि सामाजिक पूर्णता तथा न्याय की विरोधी है । "नर-नारी की गैर-बराबरी शायद आधार है और सब गैर-बराबरियों के लिए या अगर आधार नहीं है तो, जितने भी आधार हैं, बुनियाद की चट्टानें हैं, समाज में गैर-बराबरी की और नाइन्साफी की, उनमें यह चट्टान शायद सबसे बड़ी चट्टान है मर्द-औरत के बीच की गैर-बराबरी, नर-नारी की गैर-बराबरी ।"[3] लोहिया ने कहा कि हमारे लिए सावित्री नहीं बल्कि द्रौपदी आदर्श प्रतीक है, क्योंकि वह नर-नारी समानता—सखा-सखी की प्रतीक है । कृष्ण के साथ द्रौपदी का सम्बन्ध नारी अधीनता का सम्बन्ध नहीं बल्कि नर-नारी समानता का सम्बन्ध है ।

---

1. सिमोन-द-बोव्वार : द सेकण्ड सैक्स, लन्दन : जैनाथन केव, 1954, पृ 369-388.
2. लोहिया : मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, हैदराबाद : नवहिन्द, 1962, पृ. 42.
3. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 166.

लोहिया का आग्रह था कि पुरुष उच्चता तथा आधिपत्ययुक्त सामाजिक सरचना में सुधार किया जाये तथा ऐसा आधार प्रस्तुत किया जाये ताकि नर-नारी समानतायुक्त व्यवस्था का निर्माण हो सके। उनके अनुसार इस दिशा मे निम्न कदम सार्थक हो सकते हैं :—

प्रथम, दहेजप्रथा अर्थात् दहेज लेने और देने पर कानूनी रोक लगा दी जाये। दहेज के कारण नव दम्पतियों का स्वाभाविक आत्म-मिलन न होकर एक सौदेबाजी होती है। शादी के तय होने या न होने का निर्णायक तत्व यह है कि दहेज के रूप में क्या कुछ मिलेगा या नहीं। लोहिया के अनुसार "उनकी शादियों का वैभव आत्मा के मिलन मे नहीं है, जिसे प्राप्त करने का नव-दम्पत्ति प्रयत्न करते, बल्कि 20 लाख की कंठियों और 50 हजार से भी ज्यादा कीमती साड़ियों मे है।"[1] जब तक दहेज निर्णायक तत्व रहेगा नर-नारी की समानता की कल्पना निरर्थक ही होगी, क्योंकि शादी उपरान्त दहेज के कारण लड़कियो को विभिन्न प्रकार की यातनायें दी जाने की दशा मे उनकी स्थिति किसी गुलाम या दास की स्थिति से अच्छी नही होती। अतः आवश्यक है की दहेज पर तुरन्त रोक लगा दी जाये।

द्वितीय, औरत को यौन-सम्बन्धो में पूर्णतः स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। अगर एक समानतायुक्त व्यवस्था का सृजन करना है तो पुरुष को जिस क्षेत्र मे स्वतन्त्रता है, उसमें नारी को भी समानता दी जाये। लोहिया के शब्दो मे, "मेरी मुसीबत तो यह है कि बराबरी चाहिए। अगर दुनियां अच्छी बनाना चाहते हो तो अगर मर्द एक के वाद एक प्रेम कर सकता है, तो फिर औरत को भी वही गुंजाइश होनी चाहिए।"[2] लोहिया के अनुसार मा-बाप का दायित्व केवल मात्र लड़की को अच्छा स्वःस्थ्य तथा अच्छी शिक्षा देने तक ही सीमित रहना चाहिए। वह किसके साथ रहती है या किससे शादी करती है, उनकी जुम्मेदारी से बाहर होना चाहिए, क्योंकि जब लड़की स्वयं किसी के साथ शादी करने का निश्चय करेगी तो उस समय उसकी भूमिका समान सहभागी की होगी। इस दिशा मे लोहिया ने अवैध बच्चे के जन्म को भी औचित्यपूर्ण माना, क्योंकि यह तो नर-नारी समानता प्राप्ति की बढती दिशा मे एक दुर्घटना मात्र है। उनके अनुसार "अगर लड़की इधर-उधर घूमती है और किसी के साथ भाग जाती है या दुर्घटना वश अवैध बच्चा होता है, तो यह

---

1 लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 7.
2 वही पृ. 162.

औरत और मर्द के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध हासिल करने के सौदे का एक अंग है, और उसके चरित्र पर किसी तरह का कलंक नहीं।"[1]

तृतीय, नर-नारी समानता की दिशा मे अन्य प्रेरक तत्व है कि औरत को आर्थिक रूप से स्वतन्त्र बनाया जाये। औरत का कार्यक्षेत्र घर की चार दीवारी तक ही सीमित नही रखना चाहिए वरन् सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रो मे औरत की समान रूप से पहुच होनी चाहिये। नारी को पुरुष के बराबर का वेतन, समान काम के लिए समान मजदूरी तथा समान कानूनो का होना चाहिए।

अन्त में, इन सभी कारको मे से लोहिया ने ज्यादा प्रभावी कारक मानसिक जागरूकता को माना है। उनके अनुसार जब तक व्यक्ति मानसिक रूप से नारी समानता का पक्षपाती नही होता तब तक इन बाहरी कारको का कोई महत्वपूर्ण परिणाम सामने नही आ सकता। अतः आवश्यक है कि भारतीय जनमानस मे इस तरह की *गत्यात्मकता* पैदा की जाये कि वह स्वतः नारी की समानता तथा स्वतन्त्रता का समर्थक बन जाये। इस हेतु उन्होंने सार्वजनिक बहस तथा वाद-विवादो को प्रमुख माना है। लोहिया ने लिखा है : 'यह दिमागी हलचल का एक बहुत बडा और जबरदस्त आधार बन जायेगा। मैं समझता हूं, आज हिन्दुस्तान में जितनी बडी कमियां हैं, उनमे शायद *सबसे बड़ी कमी यह है कि दिमाग मर गया है। दिमाग को पुनर्जीवित करने* के कई तरीके हैं। उनमें से एक तरीका है वाद-विवाद का।"[2] लोहिया का आग्रह था कि जगह-जगह सार्वजनिक उत्सव–जैसे रामायण मेला– करके नर-नारी समानता की बहस को छेड़ना चाहिये। जिससे मानसिक रूप से ऐसा वातावरण तैयार किया जाये, जिसका आधार ही समानता तथा स्वतन्त्रता हो। इसके लिए विश्वविद्यालयो के प्रोफेसरो की भी मदद ली जानी चाहिए, क्योंकि वे इस मुद्दे को काफी सूक्ष्मता के आधार पर जन सामान्य की पहुंच का विषय बनाने मे सक्षम होते हैं। दूसरी तरफ प्रोफेसरों का यह दायित्व भी है कि वे विद्यार्थियो मे इस तरह के विचारो का सृजन करने का प्रयास करें कि वे पुरुष अधिनायकवादी प्रवृत्ति से दूर रह सकें। लोहिया के ये कुछ आधार हैं -- दहेज प्रथा का अन्त, यौन-सम्बन्धों की स्वतन्त्रता, नारी की

---

1. लोहिया : जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिंद, 1964, पृ. 6.
2. वही, पृ. 172

आर्थिक स्वतन्त्रता तथा मानसिक जागरूकता–जिनके द्वारा हम नर-नारी समानतायुक्त व्यवस्था की तरफ बढ़ सकते हैं।

4. उत्पादन पद्धति

भारतीय आर्थिक जीवन मे गत्यात्मकता लाने हेतु आवश्यक है कि *सम्पत्ति, आर्थिक सम्बन्धो, उत्पादन तकनीकी इकाई तथा कृषि-व्यवस्था मे* परिवर्तन तथा सुधार किया जाये। इन सभी का इस आधार पर पुनः गठन किया जाना चाहिए, ताकि भारतीय अर्थव्यवस्था में आयी विभिन्न बुराइयो से बचा जा सके। दूसरे शब्दों मे उत्पादन पद्धति को इस आधार पर तय किया जाना चाहिये कि सम्पूर्ण समाज को आत्मपूर्णता प्राप्त हो सके तथा समाजवादी व्यवस्था की आधुनिक मांगो की पूर्ति कर सके। इस दृष्टि से लोहिया ने श्रमिक-उपभोक्ता सहभागीदारीयुक्त लोकक्षेत्र, छोटी मशीनी तकनीक-इकाई, कृषि नीति मे कतिपय परिवर्तन–भू-सेना का गठन–आदि विकल्प प्रस्तुत किये है।

(क) श्रमिक-उपभोक्ता सहभागीदारीयुक्त लोकक्षेत्र —

लोहिया के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में निजी क्षेत्र के लिए कोई स्थान नहीं है क्योकि निजीक्षेत्र की बुनियाद मुनाफा, लाभ और शोषण पर होती है। फलत. इसमे सामाजिक हितवृद्धि सम्भव नही हो पाती। अतः लोहिया का आग्रह है कि निजी क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। साथ ही लोहिया ने माना कि क्रमिक रूप से राष्ट्रीयकरण से समस्या का समाधान नही हो सकता, क्योकि ऐसी स्थिति में दोनो एक-दूसरे के दुर्गुण अपना लेते हैं, विशेषकर लोकक्षेत्र का आधार भी स्वार्थ हो जाता है। लोहिया के शब्दो में, "निजी कारखाने सीख लेते हैं सरकारी कारखानों की बद्-इन्तजामी और सरकारी कारखाने सीख लेते हैं निजी कारखानों की लूट और लालच। दोनो एक जैसे हो जाते हैं, दोनो का चेहरा एक जैसा हो जाता है।"[1] *अतः* ऐसी स्थिति मे लोकक्षेत्र का आधार ही खत्म हो जाता है। फलत' आवश्यक है कि सम्पूर्ण राष्ट्रीयकरण एक साथ कर दिया जाये। किन्तु जब तक स्वामित्व तथा वितरण की समस्या का समाधान नही किया जाता, तब तक लोकक्षेत्र भी प्रभावी नही बन सकता। इसी कमी का परिणाम है कि आज भारत के

---

1. वद्युन, शरद, ओंकार : (सम्पादित) लोहिया के विचार, इलाहाबाद : लोकभारती, 1978, पृ. 58.

लोकक्षेत्र मे तीन प्रमुख कमियां आ गयी हैं। प्रथम, लोकक्षेत्र ने पूंजीशाही के सभी आधारो को स्वीकार किया है। उसमे धूस, वेईमानी, भ्रष्टाचार, निजो ठेकेदारी आदि तत्व प्रभावी हो गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के कार्य निजी ठेकेदारों द्वारा किया जाता है। अतः लोकक्षेत्र पर किये जाने वाले खर्चे में आधा इनके पास चला जाता है।" जब कभी देखें कि लोकविभाग की तरफ से इतना रुपया खर्च हुआ, तो हमेशा यह समझ जाना कि उसमे से आधा हिस्सा प्रायः या आधे से ज्यादा सार्वजनिक नही बल्कि निजी विभाग के ठेकेदारों के हाथों से खर्च होता है।"[1] इस निजी ठेकेदारी के परिणाम-स्वरूप मैनेजर तथा उनमे लेन-देन का रिश्ता कायम हो जाता है। इस प्रवृत्ति का मजदूरो पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि मैनेजर द्वारा अस्थायी मजदूर ठेकेदार से लेने शुरू कर दिये जाते है। मजदूर को बहुत कम मजदूरी देकर बाकी पैसे को आपस में बांट लिया जाता है। द्वितीय, लोकक्षेत्र के अवसरो पर निजी क्षेत्र की तरह पैसे खर्च किये जाते हैं। लोहिया ने गणना करके बताया कि जहां तीस हजार मजदूरो पर एक महीने में तीस लाख रुपया खर्च किया जाता है, वहां एक हजार अफसरो पर बीस लाख रुपया खर्च होता है।[2] फलतः एक अल्प वर्ग को सभी सुविधायें प्राप्त होती है तो बहुसंख्यक वर्ग दरिद्रता तथा अभाव की स्थिति में पडा रहता है। तृतीय, *लोकक्षेत्र राजनेता तथा मैनेजरो के सम्बन्धियों तथा रिश्तेदारों के शरणस्थल* बन गए हैं। अतः जहां दो-तीन अफसरो की जरूरत होती है वहा बीस तक नियुक्त कर दिए जाते हैं। परिणामस्वरूप खर्चा बढ़ जाता है और सामाजिक सेवा का आदर्श धूमिल हो जाता है। "पूंजीपति लोग नफे के कारण जिस तरह चीजों को महगी कर देते हैं या खेती-कारखानो को बिगाड़ देते हैं, उसी तरह सरकार अपने मंत्रियो के रिश्तेदारो या जातिवालो को नौकरी दिलाने के लिए कारखानो का खर्चा इतना बढा देती है कि चीजो के दाम उसी तरह से बढते चले जाते हैं। आखिर जनता को फर्क कहां मालूम पड़ेगा ? इतना जबरदस्त परम्परागत तरीका चला आ रहा है अपने देश मे कि नये-नये लोगो की भरती करते चले जाओ, ऊंची-ऊंची तनख्वाहो पर।"[3]

---

1. लोहिया : निजी और सार्वजनिक क्षेत्र, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966 पृ. 10.
2. उद्धृत, शरद, ओंकार : (सम्पादित) लोहिया के विचार, इलाहाबाद : लोकभारती, 1978, पृ. 58.
3. लोहिया : निजी और सार्वजनिक क्षेत्र, हैदराबाद : नवहिन्द, 1966, पृ. 13.

लोहिया के अनुसार इन बुराइयों से बचने और लोकसेवा के आदर्श की पूर्ति तथा समाजवाद की अभिवृद्धि के लिए लोकक्षेत्र मे निम्न दो सुधारात्मक तत्वो को स्वीकार किया जाये :—

प्रथम, सार्वजनिक क्षेत्र के नियन्त्रण की नौकरशाही तथा केन्द्रित व्यवस्था को खत्म करके, इनके प्रशासन में लोकतान्त्रीकरण को स्वीकार किया जाये। प्रशासन में मजदूरो तथा ग्राहकों को प्रतिनिधित्व दिया जाये। "उद्योगो मे लोकतन्त्रीकरण" की लोहिया की मान्यता बहुत कुछ गिल्ड सोशलिस्ट धारणा के निकट है। किन्तु गिल्ड सोशलिस्ट केवल मात्र मजदूरो को ही उद्योगो के प्रशासन मे सम्मिलित करते हैं तथा उपभोक्ता को उन्होने इससे अलग रखा। जबकि लोहिया मजदूरो के प्रतिनिधित्व के साथ ही उपभोक्ता को भी लेते है। अतः गिल्ड सोशलिस्ट केवल मजदूरो की समस्याओं तक ही सीमित रहे, जबकि लोहिया मजदूर तथा उपभोक्ता दोनों की समस्याओं को एक साथ समाधान करने का प्रयास करते हैं। साथ ही, गिल्ड सोशलिस्टों का प्रयास "उद्योगों के नियन्त्रण" के प्रश्न तक ही सीमित रहा तथा वितरण व्यवस्था पर पर्याप्त ध्यान नही दिया,[1] परन्तु दूसरी तरफ लोहिया ने नियन्त्रण के साथ वितरण को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना।

द्वितीय, प्रशासक तथा मजदूर के बीच न्यायसंगतपूर्ण सम्बन्ध होने चाहिए। बड़े अधिकारियो के ऊंचे वेतन, भत्ता, मकान सुविधा, मोटर गाड़िया आदि खर्च पर तुरन्त रोक लगा दी जाए तथा इस पैसे को मजदूरो की माली-हालत सुधारने पर व्यय किया जाये।

(ख) छोटी मशीनी तकनीक—

लोहिया के अनुसार लागत पूंजी की कमी तथा अधिक जनसख्या हमारी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें हैं। अतः औद्योगिकीकरण की कोई भी योजना इन्ही दो विशेषताओ के संदर्भ मे ही तय की जानी चाहिए। पश्चिमी-उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों प्रकार के देशो मे-मशीनी तकनीक, जो कि वृहद स्तरीय औद्योगिक इकाई पर आधारित है, भारत के लिये उपयुक्त नही है। हर व्यक्ति के पीछे पश्चिमी यूरोप मे तीन हजार और अमेरिका मे आठ हजार रुपये लागत पूंजी उद्योगों मे लगायी जाती है। जबकि हिन्दुस्तान में उद्योगो में प्रति व्यक्ति लागत पूंजी केवल मात्र डेढ़ सौ रुपया है। इस स्थिति मे बड़े

1. ग्रे, एलेक्जेंडर : द सोशलिस्ट ट्रेडिशन, न्यूयार्क, लौंगमेंस, 1947, पृ. 433

पैमाने पर चलने वाले कल-कारखानों का हमारे देश मे चल पाना नामुमकिन होगा। साथ ही यहाँ पश्चिमी देशों की अपेक्षा जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है। एक तरफ जहां रूस तथा अमेरिका मे जनसंख्या का घनत्व पचास व्यक्ति प्रति मील है वहां भारत में यह छः सौ है। जनसंख्या की बहुलता के कारण बेरोजगारी की समस्या प्रमुख बनी हुयी है। अगर वृहद् स्तरीय उद्योग चलाये गये तो यह समस्या और भी व्यापक रूप धारण कर लेगी। जिसमे "समता और समृद्धता" की कल्पना कभी सम्भव नही हो पायेगी। अत. औद्योगिक तकनीक की सार्थकता इसी मे है कि यहा व्यापक रूप से फैली बेरोजगारी की समस्या का कुछ समाधान प्रस्तुत कर सके।

लोहिया के अनुसार हमारे यहां की परिस्थितियों मे छोटी-मशीनी-तकनीक ही उपयोगी साबित हो सकती है। छोटी मशीनी तकनीक ही एक तरफ बेरोजगारी की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकती है तथा दूसरी तरफ स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्चे माल का समुचित प्रयोग कर सकती है। हमारे देश के गांवों और कस्बों मे अनेक प्रकार के कच्चे मालो की बहुतायत है, किन्तु आज यह सब व्यर्थ चला जाता है, उसका कोई समुचित सदुपयोग नहीं हो पाता। इस उपलब्ध कच्चे माल का प्रयोग करते हुए व्यक्ति आत्म-निर्भर बन सकता है, जो केवल छोटी मशीनी तकनीक योजना द्वारा ही सम्भव हो सकता है। लोहिया ने लिखा है: "इन मशीनो की प्राप्ति से कुटिया, ग्राम, कस्बा और शहर सभी अपने उपलब्ध कच्चे माल और मानव शक्ति का सदुपयोग करने मे समर्थ हो सकते है।"[1] यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि छोटी मशीनो के प्रति लोहिया का आग्रह किसी परम्परागत पूर्वाग्रहता से ग्रसित नही है। उन्होने तो इस तकनीक को केवल यहा की परिस्थितियों के सन्दर्भ मे ही अपनाने का निश्चय किया। छोटी मशीनो द्वारा कम पूंजी लागत पर उत्पादन बहुत आसान हो जाता है। अतः उनकी तकनीक इकाई को "चरखे" की संज्ञा देना या आदिकालीन साधनों तथा तरीको की वापसी कहना गलत होगा। लोहिया ने स्वयं स्पष्ट करते हुए कहा है, "मैंने नयी मशीनी पद्धति की बात की है। किन्तु साथ ही बड़े पैमाने की मशीनो की उपादेयता को भी नही नकारा है। अगर कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि मैं बडे वस्त्र फैक्ट्रियों की जगह चरखा स्थापित करना चाहता हूं तो वे गलत हैं ......वृहद् पैमाने की मशीनें तुम्हें कुछ ही कानपुर तथा कलकत्ता दे सकती

1. लोहिया : मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 326.

हैं। किन्तु ये इन नगरों के चारों तरफ हिंसात्मक गतिविधियां, दुःख का समुद्र, मानव, पतन व्यापक बेरोजगारी तथा गरीबी को जन्म देंगी।"[1] अतः जब लोहिया ने यहां की परिस्थिति के अनुसार तकनीकी इकाई अपनाने का निर्णय लिया तो आवश्यक था कि वे विशिष्ट उद्योगों के लिए अपरिहार्य बड़ी मशीनों के विरुद्ध भी नहीं थे। उनके अनुसार सिंचाई हेतु नदी बांधने, बिजली उत्पादन, स्टील निर्माण आदि कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में वृहद्स्तरीय मशीनों को अपना सकते हैं, किन्तु सारी व्यवस्था का आधार छोटी-मशीनी इकाई ही होगी।

जैसाकि हम पहले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि लोहिया ने छोटी इकाई तकनीकी योजना को सिद्धान्ततः गांधीजी से स्वीकार की। किन्तु लोहिया की योजना गांधीजी से कहीं ज्यादा सम-सामयिक है। गांधीजी की योजना में चरखा अन्ततः प्रमुख इकाई बना रहा।[2] किन्तु दूसरी तरफ लोहिया की धारणा में विद्युत और तेल द्वारा संचालित लघु मशीनें मान्य हैं। लोहिया के अनुसार आधुनिक परिस्थितियों में उत्पादन बढ़ाने हेतु आवश्यक है कि विद्युत द्वारा प्रयुक्त मशीनें काम में लें। "स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा" (1940) की व्याख्या करते हुए लोहिया ने स्पष्ट किया कि उनकी तकनीकी व्यवस्था का मतलब आधुनिक तकनीक युक्त छोटी मशीनी योजना है। उनके स्वयं के शब्दों में, "क्या स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा करने के लिए स्वतन्त्र भारत की ऐसी समाज व्यवस्था में विश्वास करना जरूरी है जो केवल चरखे पर और वर्तमान रचनात्मक कार्यक्रम पर आधारित हो? मेरी व्यक्तिगत राय में यह जरूरी नहीं है। प्रतिज्ञा में चरखा और ग्राम-दस्तकारियां समाविष्ट हैं, परन्तु उसमें अन्य उद्योगों और आर्थिक कार्यवाही का निषेध नहीं है। इन उद्योगों में बिजली, जहाज-निर्माण और मशीनें बनाने के उद्योग आदि का उल्लेख किया जा सकता है।"[3] जबकि दूसरी तरफ गांधी ने लोहिया की व्याख्या का जवाब देते हुए लिखा है, "हालांकि मैं सामान्य रूप से डॉ० लोहिया से सहमत हूं, किन्तु मेरे लिए अच्छा होगा कि मैं इसे अपनी भाषा में व्यक्त करूं.......... अगर मैं मेरे अनुसार देश का रूपान्तरण कर सकता हूं तो भविष्य की

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एंड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 68.
2. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1974, खण्ड-64, पृ. 244.
3. वही, 1978, खण्ड 71, पृ. 151, साथ ही, संघर्ष, वर्ष 3, अंक 8, 5 फरवरी, 1940, पृ. 3.

सामाजिक व्यवस्था मुख्यतः चरखे पर आधारित होगी।"[1] लोहिया तथा गांधी द्वारा अपने-अपने अनुसार "स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा" की व्याख्या छोटी मशीनी इकाई के प्रति दोनो के दृष्टिकोणों के अन्तर को भली-भांति स्पष्ट कर देती है। साथ ही लोहिया ने जोर देकर कहा कि अगर गांधीवादी सिद्धान्त (छोटी मशीनी इकाई के सन्दर्भ में) को सार्थक बनाना है तो आवश्यक है कि उसमें कुछ ऐसे तत्वों को सम्मिलित करना चाहिये, ताकि उससे आधुनिक मांग को पूरा कर सके।[2]

(ग) कृषि नीति —

भारतीय उत्पादन पद्धति की किसी भी प्रकार की व्याख्या उस समय तक अपूर्ण तथा अधूरी होगी, जब तक कृषि नीति का विवेचन न किया जाये। कृषि प्रधान देश होने के नाते भारतीय राष्ट्रीय सकल उत्पादन (जी.एन.पी.) में औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा कृषि उत्पादन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है जबकि सरकार द्वारा आज इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। लोहिया ने गणना करके बताया कि ब्रिटेन जैसे देश, जिसकी आर्थिक सरचना का आधार उद्योग है, सरकार द्वारा वार्षिक रूप से एक हजार एकड़ पर 1380 रुपये खर्च किये जाते हैं, जबकि हमारी अर्थव्यवस्था पूर्णतः कृषि पर टिकी होने के उपरान्त भी प्रति वर्ष हजार एकड भूमि पर केवल मात्र 31 रुपया खर्च किया जाता है, जबकि सरकार द्वारा एक हजार एकड़ पर प्रति वर्ष 3500 रुपये राजस्व कर के रूप मे वसूल किये जाते हैं।[3] 3500 रुपये की वसूली की जगह 31 रुपये खर्च करना इस तथ्य को सिद्ध करता है कि कृषि को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है।

लोहिया के अनुसार अगर हमें राष्ट्रीय उत्पादन बढाना है तो आवश्यक है कि कृषि पद्धति के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाये। उसमे इस तरह की सुधार योजना प्रस्तुत की जाये ताकि यह भारतीय अर्थव्यवस्था मे निर्णायक भूमिका निभा सके। किन्तु साथ ही लोहिया ने इस बात से आगाह

---

1. द कलेक्टेड वर्क्स ऑव महात्मा गांधी, दिल्ली : पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑव इण्डिया, 1978, वो. 71, पृ. 130.
2. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, (भूमिका) पृ. 13.
3 लोहिया : "इण्डियन एग्रीकल्चर इन फिगरस्", नेशनल हैराल्ड, 20 जनवरी, 1940, पृ. 4.

कर दिया कि जमींदारी प्रथा का प्रचलन, कृषि भूमि की कमी, बढ़ती हुई जनसंख्या नयी भूमिका, अपर्याप्त विकास आदि कृषि पद्धति की विडम्बनायें रही हैं। अतः ऐसी परिस्थितियों में साम्यवादी या पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित किसी भी प्रकार की सुधार योजना पूर्णतः असफल ही होगी। लोहिया ने लिखा है, "अमेरिका मे एक कृषि श्रमिक लगभग 70 एकड़ भूमि पर काम करता है। रूस मे सामूहिक कृषि के अन्तर्गत यह औसत 30 एकड़ पड़ता है। आज भारत मे कृषक 1½ एकड़ भूमि पर कार्य कर रहा है। भारतीय कृषि की कोई भी औचित्यपूर्ण योजना, चाहे वह पूंजीवादी या साम्यवादी स्वरूप पर आधारित हो, के लिए छः से दस एकड भूमि प्रति श्रमिक चाहिए। इसका तात्कालिक परिणाम यह होगा कि 40 लाख कृषि श्रमिक कार्य से वंचित हो जायेंगे। इसका अर्थ होगा 80-100 लाख श्रमिक तथा उन पर आश्रित बेरोजगार हो जायेंगे।"[1] अतः इस दिशा में सुधार की योजना इन परिस्थितियो के संदर्भ में ही ढूंढनी होगी। सुधार योजना की दिशा में लोहिया द्वारा निम्न सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं :—

प्रथम, लोहिया के अनुसार भूमि स्वयं जोतने वाले किसान के पास ही होनी चाहिए। जमीदारी प्रथा के प्रचलन होने के कारण, जमीन का मालिक कोई अन्य होता है तो जोतने वाला कोई दूसरा। यह प्रथा कृषक को दयनीय दशा मे धकेल देती है, क्योंकि उपज का अधिकांश हिस्सा जमीदार के पास चला जाता है। साथ ही कृषक की दयनीय तथा भय की स्थिति के कारण उसमें कृषि के प्रति उपेक्षा का भाव जागृत हो जाता है, फलतः उत्पादन भी कम होता है। लोहिया के शब्दो में, "जमीदारी प्रथा से सम्बन्धित कानून तथा व्यवहार मुख्यतः स्वार्थ और जड़ता से ग्रसित है। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन का निम्न स्तर तथा गरीबी और कार्य करने की अक्षमता बनी रहती है। जो खेती मे कार्य करते हैं (कृषक), वे कानूनो तथा व्यवहार के उस घने तथा कुटिले जगल से घिरे होते है, जो उनकी आंशिक जीविका को तो सुरक्षित रखता है, किन्तु समय और जीवन के सब आनन्दो से वंचित कर देता है।"[2] जमीदारी प्रथा सम्पूर्ण सामाजिक अच्छाई तथा उत्पादन दोनो दृष्टियो से हानिकारक है, अतः इस प्रथा को समाप्त कर दिया जाये। लोहिया का आग्रह था कि तुरन्त अध्यादेश जारी करके भूमि को जोतने वाले को उसका मालिक बना दिया जाये, जो कि भारतीय कृषि व्यवस्था मे प्रमुख गत्यात्मक तत्व होगा।

---

1. लोहिया : फर्गमेन्ट्स ऑव ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता : मैत्रायनी, 1952, पृ. 247.
2. वही, पृ. 57.

द्वितीय, जब एक बार इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाता है कि भूमि जोतकर्ता की हो तो आवश्यक हो जाता है कि भूमि का पुनः वितरण हो, क्योंकि लोहिया के अनुसार कुछ परिवारो का काफी कृषि भूमि पर आधिपत्य है, जबकि गरीब कृषक समुदाय के घेरे मे कृषि भूमि कम है। साथ ही, जनसंख्या की वृद्धि तथा नये पेशों के अभाव के कारण इस समुदाय मे कृषि भूमि छोटे-छोटे टुकडो मे बट गयी है, जिसके फलस्वरूप वह अलाभप्रद सिद्ध हो रही है और भूमिहीन श्रमिको की सख्या बढ़ती जा रही है। अतः आवश्यक हो जाता है कि कृषि भूमि का पुन वितरण किया जाये। लोहिया ने कृषि-भूमि वितरण की योजना को निर्धारित करते हुए एक परिवार हेतु अधिकतम भूमि की सीमा तीस एकड निर्धारित की है। उनके अनुसार तीस एकड़ से अधिक भूमि को उसके मालिक से ले लिया जाये तथा भूमिहीनो में वितरित कर दी जाये। जैसा कि सम्पूर्णानन्द की मान्यता थी कि कृषि भूमि वितरण के उपरान्त भी यह डर बना रहता है कि समाज मे प्रभावशाली लोग दुबारा गरीब तबके की जमीन पर आधिपत्य कर लेंगे।[1] इस दृष्टि से समाधान सुझाते हुए लोहिया ने कहा कि यह ग्राम-पंचायत का दायित्व होगा कि वह गरीब वर्ग–विधवा तथा अनाथो–के हिस्से की भूमि को सुरक्षा प्रदान करे।

तृतीय, लोहिया का आग्रह है कि अनउपजाऊ तथा बेमुनाफे की खेती पर से लगान माफ कर दिया जाये, ताकि गरीब किसानो का बोझ हल्का हो सके। भारतीय किसान के लिए सम्भव नही कि वह दस रुपये प्रति एकड़ उपज मे से साढे तीन रुपये राजस्व के रूप मे दे।[2] साथ ही लोहिया के अनुसार इस लगान माफी द्वारा सरकार की आय पर भी कोई विशेष अन्तर नही पडेगा। पूरे राज्य का खर्चा सत्ताइस अरब रुपए है, जिसमे से सम्पूर्ण भू-राजस्व द्वारा एक सौ बीस करोड़ रुपये आते हैं तथा बेमुनाफे की खेती से मात्र सत्तर करोड़ रुपए आते हैं।[3] अतः न केवल बेमुनाफे से बल्कि सम्पूर्ण कृषि-राजस्व को खत्म कर दिया जाये तो सरकार के कामकाज मे अन्तर नही आयेगा। बिना मुनाफे की खेती का आधार स्पष्ट करते हुए लोहिया ने कहा, "अगर औसत जमीन पर, अगर औसत मेहनत करके किसान अपने गाय-बैल और बच्चो का खर्च निकाल लेता है तो टैक्स न लगाया जाये।"[4] इस

1. सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960, पृ. 126-27.
2. लोहिया : "इण्डियन एग्रीकल्चर इन फिगरस", नेशनल हेराल्ड, 20 जनवरी, 1940, पृ. 4.
3. चौखम्भा, वर्ष 1, अंक 43, 2 अगस्त, 1958, पृ. 15.
4. वही, वर्ष 1, अंक 9, 7 दिसम्बर, 1957, पृ. 8.

दृष्टि से उन्होंने साढ़े छः एकड़ भूमि को सीमारेखा माना है अर्थात् साढ़े छः एकड़ तक की खेती मुनाफा नहीं देती, केवल खर्च निकल सकता है। अतः इस पर लगान खत्म कर दिया जाये।

चतुर्थ, कृषि में मूल्य निर्धारण भी एक निर्णायक तत्व रहा है। हमारे यहां कृषि उपज के मूल्य हमेशा नीचे तथा कृषि-व्यापार किसानों का विरोधी रहा है। कृषि उत्पादक संख्या में अधिक होने के उपरांत भी गरीबी के कारण कीमतों पर नियन्त्रण करने में हमेशा असफल रहे हैं। अनियमित रूप कीमतों की वृद्धि के फलस्वरूप पैदावार खपत के बराबर नहीं हो पाती, फलतः कृषक वर्ग हमेशा दुःख और दयनीय स्थिति मे पड़ा रहता है। अतः कृषकों की दशा सुधारने हेतु आवश्यक है कि दाम नीति तय की जाये। इस दृष्टि से लोहिया ने तीन सुझाव दिये हैं[1] : (क) प्रायः देखा गया है कि फसल तैयार होती है तो एकदम भाव घट जाते हैं। गरीबी के कारण किसान अपनी फसल को जमा रख नहीं सकता, अत. कम कीमत पर ही उसे यह बेचनी पड़ती है। किन्तु थोड़े समय उपरान्त ही कीमतें तेजी के साथ बढ जाती हैं। फलतः किसान तथा उपभोक्ता दोनो को ही इन ऊंची कीमतो का सामना करना पडता है। लोहिया के अनुसार अगर किसान को "आदमी" बनाना है तो किसी भी अनाज का दाम दो फसलो के बीच एक आना सेर से अधिक न बढ़े। (ख) कारखानों में बनी किसी भी जीवनोपयोगी वस्तु का विक्री दाम लागत खर्च से डेढ़ गुने से ज्यादा किसी हालत मे न हो। कारखानों की बनी वस्तुओं का मूल्य बहुत ऊंचा होता है, क्योंकि उनके उत्पादकों के पास शक्ति तथा साधन होते हैं। इस वजह से वे अपनी वस्तुओं को दुगुने मुनाफे से बाजार मे बेचते हैं। लोहिया के अनुसार कारखानों में बनी चीजो के दाम तथा कृषि फसल के मूल्य एक दूसरे से जुड़े होते हैं, अतः आवश्यक वस्तुओं के दाम लागत खर्च से डेढ गुने से ज्यादा न हों। (ग) किसान को उसके अनाज और कच्चे माल का ऐसा दाम मिले, जो लागत खर्च और जीवन-निर्वाह को पूरा कर सके, ताकि खेतीहर और औद्योगिक चीजों के दामों में सन्तुलन और समता कायम हो सके।

लोहिया के अनुसार दाम निर्धारण की इस नीति द्वारा ही हम यह आशा कर सकते हैं कि कृषक वर्ग की दशा में कुछ सुधार संभव हो सकता है तथा उत्पादन बढ सकता है। लोहिया के शब्दों मे, "दामो के बारे में जब

---

1. चौखम्भा, वर्ष 2, अंक 23, 14 मार्च 1959, पृ. 14-15.

यह नीति अपना लेते हैं, तब जाकर कहीं उपभोक्ता और किसान यह दोनों "आदमी" हो पाते हैं। इस नीति के अभाव में आज किसान आदमी है ही नहीं। गांव से हम दूध ज्यादा पैदा करते हैं, कब, जब गाय को चारा दे देते हैं। लेकिन किसान को कही कोई चीज मिल ही नहीं पाती और उससे उम्मीद करते हैं कि वह पैदावार बढ़ायेगा। इसलिये मेरा कहना है कि किसान को अगर मनुष्य के जैसा नहीं तो कम से कम गाय-बैल का जैसा ही जीवन हम दें।"[1]

पचम, लोहिया के अनुसार हमारे यहा पन्द्रह करोड़ एकड़ भूमि ऊसर तथा अनुपजाऊ पड़ी हुयी है। अतः ऐसी योजना बनाने की आवश्यकता है, ताकि कम से कम एक करोड एकड़ भूमि को तुरन्त हल के नीचे लाया जा सके तथा अन्य को उपजाऊ बनाया जा सके। इस हेतु लोहिया ने दस लाख व्यक्तियों की एक भू-सेना के गठन का सुझाव दिया। यह भू-सेना एक तरफ गावों और शहरों मे फैले बेरोजगारों को रोजगार प्रदान करेगी तथा दूसरी तरफ कृषि योग्य भूमि मे वृद्धि करेगी, क्योंकि ऊसर जमीन "चक के रूप मे देश में यत्र-तत्र पड़ी हुयी है, जिसमे निकट भविष्य में खेती होने की आशा नजर नही आती। यह आशा करना कि इतने बड़े पैमाने पर व्यक्तिगत खेती के द्वारा प्रयास किया जा सकता है, आत्म प्रवंचना मात्र है।"[2]

लोहिया के अनुसार इस दिशा मे हमें ब्रिटेन से सबक लेना चाहिए। ब्रिटेन मे सन् 1942 मे, जिस समय युद्ध पराकाष्ठा पर था, बम्बो की वर्षा हो रही थी, मानव बल प्राय क्षीण था, ऐसे समय में चालीस लाख एकड़ नयी भूमि को भू-सेना द्वारा उपजाऊ बनाया गया। चूंकि हमारे यहा ब्रिटेन की अपेक्षा पड़त भूमि तथा मानव बल अधिक है, अतः भू-सेना की सार्थकता अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। हमें यह लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये कि भू-सेना कम से कम दस लाख एकड़ भूमि को प्रतिवर्ष, दो वर्ष तक उपजाऊ बनाये।[3]

लोहिया का आग्रह था कि राज्य द्वारा भू-सेना के लिए वस्त्र तथा मकान और अच्छे वेतन की व्यवस्था की जाए। सभी प्रकार के खर्चे मिलाकर

1. पित्ती, बी. बी., त्रिपाठी, ए तथा निर्मल, ओ. पी.: (सम्पादित), लोकसभा मे लोहिया, हैदराबाद: राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1973, भाग-3, पृ. 67.
2. संघर्ष, वर्ष 8, अंक-17, 13 मार्च, 1950, पृ. 6.
3. लोहिया : फ्रगमेंटस, ऑव ए वर्ल्ड माईण्ड, कलकत्ता : मैटरायनी, 1952, पृ. 59.

प्रति एकड़ डेढ सौ रुपये तथा एक हजार रुपये प्रति व्यक्ति खर्च के हिसाब से, भू-सेना पर ढाई सौ करोड़ रुपये पहले साल तथा डेढ़ सौ करोड़ रुपये दूसरे साल खर्च होंगे। पचास करोड़ रुपये अन्य आपातकालीन तथा विविध प्रकार के खर्चे में गिन सकते हैं, किन्तु इसके परिणामस्वरूप दो वर्ष उपरान्त भू-सेना द्वारा चार मिलियन टन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पन्न होगा। लोहिया के अनुसार इस समय भू-सेना के अधिकाश सदस्य "मॉडल गाँवों" के किसानों के रूप में बदल जायें, जो कि तदुपरान्त अपनी रूचि के अनुसार सामूहिक तथा सहकारी ग्रामीण समितियो के चालक-सदस्य के रूप में आ जायें।

लोहिया के अनुसार भू-सेना का गठन विभिन्न सम्प्रदायो तथा क्षेत्रो से किया जाये। भू-सेना में किसको लिया जाय इसका निर्धारण जिला, शहर तथा ग्राम पंचायतें निश्चित करें, किन्तु भर्ती की संख्या केन्द्रीय सत्ता द्वारा तय की जाये। इस प्रकार भू-सेना द्वारा हम खाद्यान्न और बेकारी की समस्या को ही दूर नहीं करेंगे, बल्कि इससे हम अपने सामाजिक ढाचे में भी परिवर्तन हेतु अत्यन्त क्रियाशील कदम उठा पायेंगे। विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा क्षेत्रों के लोग एकसाथ मिलकर कार्य करेंगे, तो निश्चित रूप से सामाजिक सौहार्द्र तथा सामूहिक एकीकरण की भावना को बढावा मिलेगा। लोहिया के शब्दों में : "भू-सेना से प्राप्त लाभों में न केवल खाद्यान्न तथा रोजगार की तात्कालिक समस्याओं का समाधान ही है, बल्कि साथ ही सामाजिक सरचना तथा कृषि अर्थ-व्यवस्था में गत्यात्मक तत्व को प्रतिपादन करना भी है।"[1] संक्षेप में, लोहिया ने भू-सेना के निम्न लाभों को गिनाया है—[2]

(क) दस लाख अतिरिक्त व्यक्तियो को रोजगार मिलना, जो कि चार-पाच मिलियन व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के आधार होंगे।

(ख) वार्षिक रूप से चार मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि।

(ग) वर्ग तथा जाति की बाधाओ को दूर करना तथा आर्थिक समानता की तरफ प्रयास होना।

(घ) नये गांवों का निर्माण करना, जिनका आनन्दपूर्ण जीवन निकटवर्ती गांवो को गतिविधियो हेतु प्रेरित तथा सहयोग देगा।

---

1. लोहिया : फर्गमेंट्स ऑव ए वर्ल्ड माइंड, कलकत्ता : मैत्रायनी, 1952, पृ 61.
2. लोहिया : मार्क्स गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द 1963, पृ 404.

(ङ) प्रशिक्षित तकनीकी कर्मचारियों की उपलब्धता।

(च) राष्ट्र की शक्ति तथा सुरक्षा में वृद्धि।

(छ) वस्त्र तथा आवास सामग्री के उद्योगों, विशेषकर शिल्पी उद्योग को बढ़ावा मिलना।

भारतीय उत्पादन पद्धति मे सुधार हेतु लोहिया ने उपर्युक्त सुझाव प्रस्तुत किये, ये वे आधार हो सकते हैं, जिनके द्वारा बेरोजगारी, उत्पादन वृद्धि, कृषि सुधार तथा सामाजिक सौहार्द्र की समस्याओं का निराकरण कर सकते हैं। इन सभी सुधारों के फलस्वरूप व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की पूर्णता प्राप्ति की कोशिश सफल संभव हो सकती है।

5. वितरण और लोककल्याण

लोहिया के अनुसार सामाजिक-आर्थिक सुधार की कोई भी योजना उस समय तक प्रभावी नहीं हो सकती जब तक कि उसे वितरण व्यवस्था से न जोडा जाये, दूसरे शब्दों में समाजवादी सभ्यता की प्राप्ति के लिये सबसे प्रमुख आवश्यकता है कि वितरण व्यवस्था को औचित्यता तथा न्यायसगतता के आधार पर निर्धारित किया जाये। लोहिया के अनुसार यह वितरण व्यवस्था का ही परिणाम है कि आज गरीब भारत में सीमित अभिजन वर्ग समृद्धता मे जीवन व्यतीत कर रहा है, जबकि अधिकांश जनसंख्या अभाव, गरीबी तथा दयनीयता की स्थिति मे पड़ी हुई है। लोहिया ने गणना करके बताया कि देश के पांच प्रतिशत लोग राष्ट्रीय आय का एक तिहायी हिस्सा प्राप्त करते हैं।[1] वे इस पूंजी को ऐश्वर्य, भोग तथा यूरोप-अमेरिका की नकल में उड़ा देते हैं। अतः ऐसी वितरण व्यवस्था न केवल समाज को आधुनिक रूप में बदलने से रोकती है, बल्कि साथ ही जन अभिवृद्धि तथा लोक-कल्याण को भी अवरुद्ध कर देती है, क्योंकि विलासिता में व्यय होने वाला पैसा उत्पादन कार्यों मे पूंजी-निवेश के रूप में प्रयुक्त नहीं हो पाता। फलतः न तो उत्पादन मे वृद्धि होती है और न ही लोक-कल्याण को बढावा मिल पाता है।

लोहिया के अनुसार लोक-कल्याण हेतु सम-सामयिक विश्व में दो प्रमुख योजनायें प्रस्तुत की गयी हैं। एक है विनोबा भावे की और दूसरी है मिलोवान जिलास की। दोनो समान रूप से "कंचनमुक्ति" के आदर्श से

---

1. लोहिया : "इण्डियन इकोनोमी इन फिगरस", नेशनल हेराल्ड, 18 जनवरी, 1940, पृ. 3.

प्रभावित हैं। दोनों का मानना है कि "कंचनमुक्ति" की मान्यता को सैद्धांतिक रूप में स्वीकार कर लिया जायेगा, तो किसी प्रकार का अभाव तथा कमी नहीं होगी। फलतः व्यक्तियो को पूर्णता प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। किन्तु मान्य आदर्श एक होते हुए भी इस तक पहुंच की दोनों की पद्धतियां भिन्न-भिन्न हैं। विनोबा भावे एक ऐसे विश्व का सृजन करना चाहते हैं, जहां व्यक्ति सम्पत्ति के मोह से परे होगा तथा आवश्यकतायें और इच्छायें सीमित होंगी। इस हेतु उन्होंने कहा कि प्रत्येक परिवार के पास छः-सात एकड़ भूमि का टुकड़ा होना चाहिये, ताकि वे उस पर कार्य करके खरीद तथा बेचने की आवश्यकता से दूर रह सकें। दूसरी तरफ जिलास का स्वप्न एक ऐसी प्रचुरता की स्थिति में है, जहां व्यक्ति भोजन, वस्त्र तथा मकान आदि की खरीद-बिक्री से परे होगा। इसके लिए उन्होने अर्थव्यवस्था में विज्ञान के निरन्तर बढते प्रयोग की आवश्यकता पर जोर दिया। इस तरह दोनों मानव-कल्याण की योजना प्रस्तुत करते हैं, किन्तु एक न्यूनतम तथा सादगी पर जोर देता है, तो दूसरा प्रचुरता तथा समृद्धता पर। लोहिया के अनुसार वितरण व्यवस्था से न जुड़े होने के कारण हमारे लिए कोई सा सिद्धान्त भी उपयोगी नही है। अतः उन्होंने दोनों को समानरूप से अस्वीकार किया।

लोहिया का मानना है कि विनोबा भावे के सम्पत्ति-मोह परित्याग के सिद्धान्त के अनुसार अनुशासित इच्छाएँ, आत्म-निर्भरतापूर्ण कृषि फार्म की आवश्यकता है, जो असंभव है। "न केवल सभी मनोभावो को अधीन बनाया जायेगा तथा समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने मानस को नियन्त्रण करने हेतु प्रशिक्षित किया जायेगा, बल्कि स्थायी रूप से एक महान कटघरा खड़ा किया जायेगा। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से पतन होगा।"[1] साथ ही विनोबा की मान्यता सैद्धान्तिक स्तर पर भी मान्य नही है। विनोबा ने सादगी हेतु हृदय-परिवर्तन को प्रमुख माना, किन्तु इस हेतु उन्होने सत्याग्रह को अस्वीकार किया। लोहिया ने इस पर सन्देह व्यक्त करते हुए कहा कि क्या व्यावहारिक रूप से यह सम्भव हो पायेगा कि "बड़े-लोग" स्वेच्छिक रूप से अपनी सम्पत्ति का त्याग कर देंगे।[2] लोहिया के अनुसार, जैसाकि प्रथम अध्याय में गांधी के ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त की आलोचना के संदर्भ में उल्लेख किया जा चुका है, हृदय परिवर्तन केवल नैतिक उपदेश ही हो सकता है तथा इसके द्वारा किसी सार्थक लक्ष्य की कल्पना करना निरर्थक होगा।

---

1. लोहिया : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 200.
2. चौखम्भा, वर्ष 1, अंक 40, 12 जुलाई, 1958, पृ. 8.

समान रूप से लोहिया ने जिलास की मान्यता को भी अस्वीकार किया है। उनके मतानुसार आज के औद्योगिक युग मे सम्पूर्ण विश्व के प्रति व्यक्ति भोजन, वस्त्र, मकान आदि मे कमी आयी है। तकनीक का व्यापक विकास होने के उपरान्त भी मानव खुशहाली तो दूर रही, बल्कि इससे दुःख तथा परिवेदना को बढ़ावा मिला है। लोहिया के अनुसार इसके तीन कारण– जनसंख्या मे वृद्धि, युद्धों की तैयारियो मे किया गया अपव्यय तथा असमान पूंजी का केन्द्रीकरण अर्थात् दोषपूर्ण वितरण व्यवस्था रहे हैं। यद्यपि आधुनिक युग की दुःख एवं परिवेदना के ये तीनों कारक उत्तरदायी रहे है, किन्तु इनमे सबसे प्रमुख भूमिका दोषपूर्ण वितरण व्यवस्था की रही है। अतः जब तक असमान रूप से पूंजी वितरण चलता रहेगा, तब तक जिलास की मान्यता के प्रति सकारात्मक आशा करना व्यर्थ होगा। दूसरे शब्दों में जब तक न्याय सगत वितरण व्यवस्था प्रभावी न होगी, तब तक प्रचुरता का सार्थक परिणाम नही होगा।

जिलास की मान्यता के समानान्तर एक दूसरी धारणा यह प्रकट की जाती है कि जब तक उत्पादन की बढ़ोतरी नही होगी तब तक क्या बंटवारा करोगे। अतः वितरण से पहले उत्पादन आवश्यक है। किन्तु लोहिया के अनुसार यह सोचना गलत होगा कि उत्पादन तथा वितरण में कोई सम्बन्ध नही है। वरन् दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः बिना वितरण व्यवस्था पर ध्यान दिये उत्पादन मे वृद्धि सभव नही हो सकती। दूसरे शब्दों में, लोहिया के अनुसार उत्पादन बढ़ाना है तो साथ ही यह भी आवश्यक होगा कि वितरण को औचित्यपूर्ण बनाया जाये।

जहां तक स्वयं लोहिया की वितरण योजना का प्रश्न है, उन्होने एक विशिष्ट प्रारूप को लागू करने का प्रयत्न किया जो कि व्यक्ति की सम्पत्ति तथा आय और व्यय का निर्धारण कर सके। जहां तक आय का सवाल है, लोहिया ने कहा कि समाजवादी व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि न्यूनतम तथा अधिकतम का अन्तर दस गुने से ज्यादा न हो। लोहिया के अनुसार जब तक आय में व्यापक आर्थिक गैर-बराबरी चलती रहेगी, तब तक समाजवादी सभ्यता का आदर्श स्वप्न ही रहेगा। इसी प्रकार उन्होंने खर्च पर भी सीमा का निर्धारण किया है। उनके अनुसार प्रति परिवार को पन्द्रह सौ रुपये मासिक से अधिक खर्च न करने दिया जाये। सन्तानादि की प्रेरणा हेतु पांच सौ या हजार रुपये महीना दिया जा सकता है। लोहिया ने जोर देकर कहा कि हमारी वितरण व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये कि खर्च की सीमा निर्धारण से

अतिरिक्त धन व्यक्ति किसी प्रकार भी एकत्र न कर पाये। "इसका साफ मतलब होता है कि आमदनी करके अप्रत्यक्ष रूप से अपने पास रखने की इस प्रस्ताव में कोई गुंजाइश नही है।"[1] यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इस आय तथा व्यय की सीमा को लोहिया ने शाश्वत नहीं माना है, क्योंकि उनका आदर्श तो सम्पूर्ण बराबरी का है। अतः जब तक सम्पूर्ण बराबरी का स्तर प्राप्त न हो जाये तब तक संभव बराबरी को आदर्श बनाया जाये। लोहिया के अनुसार एक और दस का अन्तर सम्भव बराबरी का आदर्श है। किन्तु प्रयास निरन्तर सम्भव बराबरी से सम्पूर्ण बराबरी की तरफ होना चाहिये। इसी कारण उन्होंने यह सीमारेखा केवल बीस-पच्चीस वर्ष तक ही लागू करने की अनुमति दी है, क्योंकि इस अवधि में समाजवादी वितरण व्यवस्था द्वारा हम सम्पूर्ण बराबरी के आदर्श को प्राप्त कर लेंगे।

लोहिया की वितरण व्यवस्था के इस प्रारूप द्वारा हमें नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों ही तरह के लाभ होंगे। नकारात्मक रूप से राजनेता, नौकरशाह तथा व्यापारी के विलासी जीवन पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। फलतः उन्हें यथार्थ जीवन की समस्याओं से अवगत होना पड़ेगा। लोहिया ने लिखा हैं, "जब बड़े मन्त्रियों के घर मे नमक, दाल, हल्दी के दामों की चिन्ता होने लग जायेगी, तब जाकर चीजों के दाम गिरेंगे, उससे पहले गिरने वाले नही हैं, तो इसके लिए पहले बड़े लोगों के खर्चे गिराओ।"[2] सकारात्मक रूप से इस प्रतिबन्ध द्वारा प्रतिवर्ष बीस-पच्चीस अरब रुपये की बचत होगी, जिसे हम उत्पादन में वृद्धि तथा लोक-कल्याण में खर्च कर सकते हैं।

इस तरह लोहिया ने विनोबा भावे तथा जिलास दोनो की मान्यताओं से दूर हटकर सम्पत्ति के मोह से छुटकारे के साथ-साथ सम्पत्ति के संस्थाकरण का भी प्रयास किया। यह उन्होने वितरण व्यवस्था के अन्तर्गत सीमाबद्ध आय-व्यय से करने का प्रयास किया। अपनी इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए लोहिया ने कहा, "किसी भी तरह से हम कोई रास्ता निकालें कि सम्पत्ति के मोह और सम्पत्ति की संस्था, इन दोनों का हल निकाल सकें। भोग की इच्छा और भोग की व्यवस्था दोनों का हल निकाल सकें। मैंने यही बात यहां पर रखी है कि किसी तरह से भोग की व्यवस्था पर रुकावट लगायी जाये,

1. लोहिया : खर्च पर सीमा : प्रस्ताव और बहस, कलकत्ता : समता, पृ. 35.
2. वही, पृ. 2.

भोग इच्छा पर रुकावट लगायी जावे। यह केवल..........खर्च पर सीमा के प्रस्ताव द्वारा ही संभव है।"[1]

लोक-कल्याण की योजना प्रस्तुत करते हुए लोहिया ने कहा कि समाजवादी सरकार प्रारम्भिक रूप से स्वास्थ्य, आवास तथा शिक्षा पर ज्यादा ध्यान दे। तदुपरान्त ग्रामीण औषधालयों तथा राष्ट्रीयकृत मेडिकल सेवा व्यवस्था द्वारा राष्ट्र के सभी लोगों को मुफ्त चिकित्सा सुविधा प्रदान की जाये। बेसिक तथा तकनीकी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा सार्वजनिक कालेजों की व्यवस्था की जाये। इस तरह की व्यवस्था की जाये कि प्राथमिक स्तर तक सभी बच्चों को शिक्षा प्राप्त हो सके तथा दस साल में पूर्ण साक्षरता आ जाये। साथ ही लोहिया ने चेतावनी देते हुए कहा कि लोक-कल्याणकारी राज्य का यह दायित्व होगा कि वह जन-अभिवृद्धि की सभी योजनाओं को एकीकृत रूप से क्रियान्वयन करे अर्थात् उन सभी में सामंजस्यता स्थापित हो सके, ताकि इसमें समाज के सभी वर्गों को इससे लाभ पहुंच सके तथा कोई समुदाय इससे वंचित न बना रहे।

निष्कर्षतः समाज सुधार के संदर्भ में लोहिया के दो उल्लेखनीय योगदान रहे हैं: प्रथम, सामाजिक परिवर्तन हेतु सुधार की किसी बाह्य पद्धति को न अपनाकर स्थानीय परिप्रेक्ष्य में ही उन्होंने अपनी सुधार योजनाओं का निर्धारण किया। लोहिया का यह मानना पूर्णतः सही है कि किसी बाह्य समाज के पर्यावरण में तय की गयी सुधार पद्धतियां हमारे समाज की परिस्थितियों तथा मूल्य संरचना के संदर्भ में कभी सार्थक नहीं हो सकती हैं, क्योंकि प्रत्येक समाज का अपना विशिष्ट स्वरूप होता है, उसी के संदर्भ में उसकी समस्याओं को देखा तथा समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में सुधार के किसी बाह्य प्रतिमान को स्वीकार कर लिया गया तो वह उस समाज का कदापि अंग नहीं बन सकता तथा उसकी भूमिका कृत्रिम सुधार की ही होगी। फलतः बाह्य प्रतिमान द्वारा सुधार की सकारात्मक आशा करना निरर्थक होगा। अपने समाज के संदर्भ में अपनायी गयी सुधार पद्धति ही प्रभावशाली सिद्ध हो [illegible] सकती है। अतः स्थानीय पर्यावरण के संदर्भ में ही लोहिया ने जाति, [illegible] समस्या, औद्योगिक आधार, कृषि व्यवस्था, [illegible] योजना आदि [illegible] करने का प्रयास किया। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार [illegible] सुधार पद्धति उन्हें एक तरफ मौलिक समाज सुधारक [illegible]

दूसरी तरफ़ सुधार पद्धतियों की महत्ता भी सिद्ध करती है। समाज सुधार के क्षेत्र में लोहिया का द्वितीय, योगदान यह रहा है कि उन्होंने सभी सुधार योजनाओं को एकीकृत तथा समग्र रूप मे लिया है, जिससे सामाजिक जीवन का सर्वांगीण विकास हो सके। स्पष्ट है कि अन्य पक्षों की जड़तायुक्त स्थिति मे एक पक्षीय सुधार की कोई उपादेयता नहीं होती है। एक समस्या का मूल दूसरी समस्या से जुड़ा होता है। अतः यह कल्पना करना कि एक क्षेत्र मे किया गया सुधार अन्य सभी समस्याओं के निराकरण का कार्य करेगा, गलत होगा। अगर हमें समाज का रूपान्तरण करना है तो सभी क्षेत्रों में एक साथ सुधार की आकांक्षा को स्वीकार करना होगा। अतः लोहिया का यह दृष्टिकोण क़ाफी महत्व रखता है कि स्थानीय समस्याओं के अनुरूप समग्रतायुक्त सुधार पद्धति ही पूर्ण सामाजिक परिवर्तन हेतु प्रभावी हो सकती है।

समाजवाद तथा राष्ट्रवाद

1. राष्ट्रवाद तथा उपराष्ट्रवाद : एकीकरण की समस्या

जैसाकि पिछले अध्यायो मे विवेचन किया गया है, लोहिया की सम्पूर्ण वैचारिक सरचना स्थानीय परिस्थितियों के संदर्भ मे तय हुयी है। अर्थात् उनकी समाजवादी व्यवस्था की प्रारूप रेखाओं का आधार, भारतीय समाज के सामाजिक-आर्थिक मूल्य तथा यहा का भौगोलिक वातावरण था। इसी कारण उन्होंने किसी बाह्य सार्वभौमिक मापदण्ड को स्वीकार करने से इन्कार किया तथा निजी सुधार पद्धति को प्रमुखता दी। जब लोहिया ने स्थानीय पर्यावरण तथा समस्याओं के संदर्भ में चिन्तन की प्रकृति का निर्धारण किया तो स्वाभाविक है कि उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद की समस्याओं से जुड़े विभिन्न प्रकार के प्रश्नों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। भारत में उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियां–भाषा, धर्म, क्षेत्र–बहुत व्यापक रूप धारण किये हुये हैं। इनके चलाते हुए राष्ट्रीय आत्मपूर्णता की प्राप्ति असम्भव है। लोहिया की समाजवादी संरचना मे व्यक्ति तथा समाज की पूर्णता के साथ ही राष्ट्रीय पूर्णता को भी समान स्थान मिला है। साथ ही राष्ट्रीय पूर्णता की स्थिति में समुदाय–जो कि किसी भाषा, धर्म या क्षेत्र के आधार पर चलता–के हितों तथा राष्ट्रीय हितो में टकराव नही होता वरन् यह तो वृहद् पूर्णता की दिशा मे बढता हुआ एक कदम है। अतः स्वाभाविक है कि लोहिया के चिन्तन में समाजवाद और राष्ट्रवाद समानान्तर अवधारणाओं के रूप में सामने आते हैं। लोहिया के शब्दो में, "हमारे दो घर हैं–राष्ट्रीयता और समाजवाद। हमे दोनो को सम्भालते चलना है। यही हमारी सच्ची नीति है।"[1]

अन्य भारतीय समाजवादियो मे विशेषकर जयप्रकाश ने भी माना कि राष्ट्रवाद तथा समाजवाद कोई विरोधी चीजें नहीं हैं।[2] किन्तु सन् 1938 के

---

1. संघर्ष, वर्ष 5, अंक 22, 5 मार्च 1947, पृ. 10.
2. नारायण, जयप्रकाश : "ऑवर टास्क", कांग्रेस सोशलिस्ट, वो. 3, न. 7–8, 1938, पृ. 133.

जयप्रकाश की यह स्थिति स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इस समय जयप्रकाश एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे। चूंकि मार्क्सवादी धारणा मे उपराष्ट्रीय प्रश्नों–भाषावाद, क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद आदि–को कोई स्थान नहीं मिलता। उनके लिए केवल एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था ही आदर्श होती है–चाहे वह व्यवस्था सोवियत रूस की हो या चीन की। फलतः जयप्रकाश नारायण ने भी उप-राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के प्रति कोई सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया। अतः प्रश्न उठता है कि जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्रवाद और समाजवाद के सह-अस्तित्व को किस प्रकार सन्तुलित किया ? इस सदर्भ मे कह सकते हैं कि जयप्रकाश ने इनके पारस्परिक सम्बन्ध को कहीं भी स्पष्ट नही किया। अतः उनकी स्थिति अस्पष्टतायुक्त है।

जैसाकि पीछे संकेत दिया जा चुका है लोहिया की वृहद्पूर्णता का आदर्श राष्ट्र की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उन्होंने इसे विश्व-समुदाय तक विस्तृत करने का प्रयास किया। इस हेतु लोहिया ने वयस्क मताधिकार पर चुनी हुयी और सीमित अधिकारों वाली विश्व सरकार को अपनाये जाने पर बल दिया। इस प्रकार उनकी मान्यता के घेरे में सम्पूर्ण मानव-जाति आ जाती है। उनके स्वयं के शब्दों मे, "जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता की सरकार संसार में सर्वप्रथम बार तभी सम्भव होगी जबकि एक ओर समुदाय के लिए, समुदाय के द्वारा, समुदाय की सरकार और दूसरी ओर सम्पूर्ण मानवता के लिए, मानवता के द्वारा, मानवता की सरकार अस्तित्व में लायी जाये।"[1] लोहिया के अनुसार मानवता की सामूहिक अन्तरात्मा ऐसी विश्व-सरकार के रूप में ही प्रकट हो सकती है।

विश्व-सरकार के स्वरूप की विवेचना करते हुए, "वर्ल्ड फेडरल गवर्नमेन्ट" के स्टोकहोम अधिवेशन (29 अगस्त–5 सितम्बर, 1949) में लोहिया ने कहा, "मुझे आश्चर्य है कि यूरोप में आज इस तेजी से हथियार तैयार किये जा रहे हैं कि जनता की ओर से जबदस्त दृढ़ता के साथ कोशिश नही की गयी तो मेरा विश्वास है कि भयंकर विस्फोट होगा...... –आज की अनेक समस्याओं में से एक समस्या है केन्द्रीकरण। इसका इलाज है संघीकरण। मैं मानता हूं कि विश्व-सरकार के बुनियादी पांच खम्भे होने चाहियें। इसका मतलब हुआ कि गांव, जिला, प्रान्त को क्रमशः अपने मामले में स्वतन्त्रता होनी चाहिये। चौथा खम्भा होगा देश की सरकार। विश्व-सरकार पांचवां खम्भा होगी। सभी देशों का मिला-जुला संघ ही विश्व-सरकार होगी। इसका

---

1. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित), इलाहाबाद : लोकभारती, 1977, पृ. 75.

सम्बन्ध सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में रहेगा । सदस्य देशों के आन्तरिक मामलो मे नहीं ।"[1] लोहिया के अनुसार संयुक्त राष्ट्र-संघ भी इसी तरह का प्रयास है, किन्तु इसमें दो प्रमुख कमियां-समानता तथा सार्वभौमिकता का अभाव-है । जो इसके उद्देश्य को ही खत्म कर देती है । अतः विश्व-स्तर पर ऐसी व्यवस्था बालिग मताधिकार पर चुनी हुयी ही हो सकती है । छोटे राष्ट्रों मे अनावश्यक संदेह को दूर करने के लिए विश्व-संसद के दो सदन भी हो सकते हैं, जिसके उच्च सदन मे छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों का समान प्रतिनिधित्व हो अथवा एक ही चुने हुए सदन के चुनाव क्षेत्र इस प्रकार बाटे जाये कि सभी को उचित प्रतिनिधित्व मिले ।[2] लोहिया के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस दिशा मे सार्थक कदम के रूप में बनाना है तो आवश्यक है कि उसके चार्टर मे इस तरह का संशोधन होना चाहिए, ताकि सीमित सदस्यता तथा सुरक्षा समिति की स्थायी सदस्यता और "वीटो" का अन्त हो जाये । इसी आधार पर हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित "जाति-व्यवस्था" का अन्त कर सकते हैं । संयुक्त राष्ट्र सघ को यथास्थिति के आधार पर कायम रख कर यह आशा करना व्यर्थ है कि विश्व-स्तर पर राष्ट्रों की समानता कायम होगी ।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि लोहिया का उद्देश्य कभी भी राष्ट्रीय सरकारो का अन्त करके अन्तिम रूप से विश्व-सरकार का निर्माण करना नहीं था । लोहिया ने कहा कि विश्व-सरकार की स्थापना वास्तविक रूप से राष्ट्रीय सरकारों को बनाये रखने की दिशा में सुरक्षात्मक कदम है, क्योंकि आधुनिक आणविक तकनीक के युग मे बिना विश्व-सरकार के राष्ट्रीय सरकारो का अस्तित्व में रहना मुश्किल है ।[3] यद्यपि लोहिया ने माना कि राष्ट्रीय-सरकारें मानव-जाति की एकता विरोधी बनती जा रही है । इनमें मिथ्या राष्ट्रीय गर्व या सुरक्षा की भावनाओ के कारण हमेशा हिंसा की सम्भावना बनी रहती है । अतः लोहिया का केवल मात्र आग्रह अन्तर्राष्ट्रीय मानव-समुदाय के सामने जो खतरे पैदा हो गये हैं, उन्हें दूर करने तक रहा । इसी कारण उन्होंने विश्व-सरकार को युद्ध और शान्ति, सैनिक शक्ति तथा वैदेशिक

---

1. संघर्ष, वर्ष 7, संख्या 50, 17 अक्टूबर, 1949, पृ. 3.
2. वही, वर्ष 18, संख्या 13, 3 मई 1954, पृ. 5, साथ ही लोहिया : विल टू पॉवर एंड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956, पृ. 79.
3. लोहिया : नोट एण्ड कोमेन्ट्स, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2, पृ. 60-61.

नीति जैसे आवश्यक विभागों तथा बुनियादी अस्तित्व के लिए न्यूनतम विषयों तक ही सीमित रखा। लोहिया ने लिखा है : "ऐसी विश्व-सरकार की पृष्ठ-भूमि मे राष्ट्रीय सरकारों द्वारा मानव-जाति के अत्याचारपूर्ण बंटवारे का अंत हो जायेगा और जनतन्त्र को पहली बार काम करने का विस्तृत क्षेत्र मिलेगा।"[1] अतः विश्व-सरकार का लक्ष्य विश्व का पुनः निर्माण करना है, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित राष्ट्रों की असमानता को मिटा सके। लोहिया ने माना कि इसके लिए आवश्यक है कि विश्व-पालियामेंट पूंजी और कौशल के रूप मे हर राष्ट्र से उसकी शक्ति के अनुसार एक साधन कोष जमा करें और आवश्यकता के अनुसार सभी राष्ट्र उसका उपयोग करें। ऐसे देश जो अधिकतम देंगे उन्हे न्यूनतम आवश्यकता रहेगी और जिन्हें अधिकतम आवश्यक रहेगी वे न्यूनतम देंगे। अतः विश्व-सरकार एक विश्व-विकास संस्था के रूप मे कार्य करेगी। जो अविकसित देशों को सहायता देगी, ताकि-विश्व मानव-जाति राष्ट्रीय आधार पर समानता की स्थिति मे आ सके।

लोहिया का मानना है कि विश्व-समुदाय की दिशा मे तभी बढ सकते हैं जबकि पहले हम राष्ट्र-निर्माण का उच्च दर्जा प्राप्त कर लें। राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यक है कि एक उदार एकीकृत राष्ट्रीय भावना को विकसित किया जाये। एकीकृत राष्ट्रीय भावना मे सबसे बाधक भूमिका उपराष्ट्र-वादी मान्यतायें निभाती हैं। उपराष्ट्रवादी आस्थायें एकीकृत राष्ट्रीय चेतना के विकास का संबल न होकर राष्ट्र विरोधी तथा राष्ट्र विघटनकारी भावनाओं को जाग्रत करती हैं। "राष्ट्रीयता जब गलती करने पर उतारू हो जाती है, तो फॉक डालने और टूट पैदा करने, फूट और जहर बोने और जहां एक राष्ट्र हैं वहां दो राष्ट्र बनाने के लिए ओछे और स्वार्थी लोगों की मदद करने लग जाती है।"[2] जब उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियां प्रबल होती है तो एक वर्ग दूसरे वर्ग की कीमत पर अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है। उसके दृष्टिकोण मे यह पक्ष गौण, बल्कि यों कहें कि होता ही नही कि इससे सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उपराष्ट्रवाद पर टिप्पणी करते हुए, जैसा कि डब्ल्यू. सी. स्मिथ ने लिखा है : "उपराष्ट्रवाद उस स्थिति का प्रतीक है, जिसमें प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह अपने को एक ऐसी पृथक् सामाजिक तथा राज-नीतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक् होते हैं और उनके

1. लोहिया : इतिहास चक्र, (अनूदित) इलाहाबाद : लोकभारती, 1977, पृ. 74.
2. लोहिया : भाषा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 107.

विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूहों की विचार-धारात्मक भावनाओं को उपराष्ट्रवाद कहा जाता है।"[1]

लोहिया ने भारतीय राष्ट्रवाद के अवलोकन स्वरूप दो आलोचनात्मक मान्यतायें रखी हैं। प्रथम, उनके अनुसार हमारे यहां सभी राजनीतिक दलों मे व्यावहारिक रूप से कार्यक्रमों तथा गतिविधियो मे और सैद्धान्तिक रूप से वैचारिक स्तर पर राष्ट्रत्व की अवधारणा का अभाव पाया जाता है। बीसवी शताब्दी में कई राष्ट्रों–आयरलैण्ड, जर्मनी, कोरिया, वियतनाम आदि को विभाजन का सामना करना पड़ा, किन्तु राष्ट्रत्व की अवधारणा का अभाव केवल मात्र हमारे देश में ही पाया गया।[2] काग्रेस पार्टी ने भारत विभाजन का समर्थन किया तथा आज भी सत्ता प्राप्ति हेतु जनता में अपील का आधार उप-राष्ट्रवादी आस्थायें होती है। लोहिया ने लिखा है, "ये कांग्रेस वाले किस तरह से हर एक राष्ट्रीय नेता को प्रान्तीय नेता बना रहे हैं"...... ...शिवाजी का मतलब महाराष्ट्रीय, पटेल का मतलब गुजराती, सुभाषचन्द बोस का मतलब बंगाली। मैं तो चाहता हूं कि जितनी भी मूर्तियां खड़ी की जाती हैं, विभिन्न प्रदेशो में, सूबों के हिसाब से लगाना एक जुर्म बना देना चाहिए और इस पर सजा मिलनी चाहिये। लेकिन काग्रेस वाले यह सब काम कर रहे हैं।"[3] उनका कहना था कि कांग्रेस की भाँति साम्यवादियों ने भी भारत विभाजन का समर्थन किया। इसका कारण यह रहा कि साम्यवादियों का मानना था कि विभाजित भारत–विशेषकर पाकिस्तान–में गहराई से अपना प्रभाव कायम कर सकेंगे तथा भारतीय मुसलमानो मे भी असर रहेगा।[4] सैद्धान्तिक स्तर पर भी साम्यवादी विचारधारा मे राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सकारात्मक दृष्टि का पूर्णत: अभाव पाया जाता है। उनकी निगाहें एक अन्तर्राष्ट्रीय मतवादी प्रतिमान की ओर होती है–चाहे वह प्रतिमान सोवियत रूस का हो या चीन का। स्थानीय समस्याओ की उपेक्षा करते हुए केवल मात्र एक

---

1. स्मिथ, डब्ल्यू सी.: मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया, लन्दन: विक्टर गोंलाज, 1943, पृ. 5.
2. लोहिया: नोट एंड कोमेन्ट्स, हैदराबाद: राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2, पृ. 5-86.
3. लोहिया: क्रान्तिकरण, हैदराबाद: राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1965 पृ. 24-25.
4. लोहिया: भारत विभाजन के गुनाहगार, (अनुदित) इलाहाबाद: लोकभारती, 1978, पृ. 11.

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी मंच की ओर प्रयास होता है। लोहिया के शब्दों में, "वर्तमान इस बात का उदाहरण है कि वामपंथी-साम्यवादी किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मतवाद द्वारा मानस को धुंधला बना देना चाहते हैं।·········वामपंथी साम्यवादी, सही या गलत रूप से, आन्तरिक प्रश्नों पर एक तीक्ष्ण तथा तीव्र दृष्टि रखते हैं। किन्तु राष्ट्रत्व के प्रश्न पर वे कोई दृष्टि नहीं रखते ·········वे केवलमात्र एक मशीनी राग (अन्तर्राष्ट्रीय मतवाद का) अलापते रहते हैं।"[1] अगर किसी देश में साम्यवादी आन्दोलन राष्ट्रवादी रहा भी हो, उसका कारण सैद्धान्तिक नहीं वरन् यह तो उस किसी खास देश में जब उसकी (साम्यवाद की) स्थिति कमजोर होती है तो वह दूसरी शक्तियों का सामना करने तथा उन्हें कमजोर करने हेतु सशक्त राष्ट्रीयता का सहारा लेता है। अन्यथा साम्यवाद हमेशा पृथकतावादी तथा अराष्ट्रीय रहा। स्वतन्त्र पार्टी का न मजबूत संगठन रहा और न ही कोई अनुशासन। अतः हो सकता है कुछ विशिष्ट सदस्य एक संगठित भारत का स्वप्न देखते हों। किन्तु नीति के स्तर पर यह भी साम्यवादियों की भांति न केवल राष्ट्रत्व की भावना से परे रही, बल्कि समान रूप से देशद्रोही और देशघाती भी रही। उदाहरण के लिए, भारत-पाक युद्ध से स्वतन्त्र पार्टी ने एकमात्र यह निष्कर्ष निकाला कि वियतनाम मे अमेरिकन अतिक्रमण औचित्यपूर्ण था। जहां तक जनसंघ का सवाल है, वह भी एक समुदाय से जुड़ा हुआ है। किन्तु इसके रास्ते साम्यवादियों तथा स्वतन्त्र वालों से ज्यादा रहस्यमय हैं। स्पष्ट रूप से जनसंघी कट्टर हिन्दूवाद के मार्ग को राजनीति में अपनाये जाने पर जोर देते हैं। एकता के नारे के साथ पृथकतावादी स्वरूप, कार्य तथा नीति को अपनाते है और आवश्यकतानुसार एक वर्ग या दूसरे वर्ग का समर्थन करते रहते हैं। "संकीर्ण पृथकतावादी स्वरूप के साथ अखिल भारत, सांस्कृतिक एकता तथा·········प्रजातन्त्र की वकालत की जाती है। रूढ़िवादी नीति में अवसरवाद तथा कार्य में तुच्छ और संकीर्ण स्वार्थपन से जुड़ जाता है।"[2] अतः एकीकृत राष्ट्र या राष्ट्रत्व की परिकल्पना एक भ्रान्ति, धोखा तथा छद्मवेश होती है।

इस प्रकार लोहिया ने यह निष्कर्ष निकाला कि हमारे यहां प्रत्येक राजनीतिक वर्ग में राष्ट्रत्व की अवधारणा का अभाव पाया जाता है। प्रत्येक राजनीतिक दल या तो सोवियत रूस तथा चीन की ओर देखता है या

1. लोहिया : नोट एंड कोमेन्ट्स, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2, पृ. 86.
2. वही, पृ. 87.

अमेरिका की ओर। ये हमेशा अपने सम्प्रदाय की स्वार्थपूर्ति में लगे रहते हैं तथा सुदृढ राष्ट्र की भावना को कोई स्थान नहीं मिल पाता। राष्ट्रीय नेतृत्व का प्रयास एकीकृत राष्ट्रीय हित अभिवृद्धि का न होकर निजी-समुदाय तथा वर्ग की हितपूर्ति होती है। फलतः यहां उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल रहा है। उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों के समाधान तथा उनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण को तभी अपना सकते हैं, जबकि सम्पूर्ण राष्ट्रीय विकास अर्थात् राष्ट्रत्व की भावना से ओतप्रोत हो।

द्वितीय. लोहिया के अनुसार हालांकि उपराष्ट्रवादी अवस्थाओं में भाषा, धर्म तथा आर्थिक असमानता आदि कुछ तत्व रहे हैं, किन्तु हमारे यहां की परिस्थितियों मे इस समस्या का बहुत कुछ कारण हमारी सामाजिक व्यवस्था रही है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था जातिप्रथा द्वारा निर्धारित होती है तथा जातीय-पदसोपानीय स्थिति उसकी सामाजिक तथा आर्थिक उच्चता या निम्नता से जुड़ी होती है। सत्तायुक्त उच्च जाति के लोग अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए तथा उच्च जातियों के समान ही उभरी दूसरी जाति, निम्न समुदाय के लोगों को बराबरी का आदर्श प्रस्तुत करके, सत्ता प्राप्ति हेतु, वे राष्ट्रीय हित की अपेक्षा संकीर्ण प्रवृत्तियों को उभारने की कोशिश करते हैं। लोहिया ने लिखा है : "प्रान्तीयता की जड़ में भी हिन्दुस्तान की जातिप्रथा है। तेलुगु प्रान्तीयता, हिन्दी प्रान्तीयता, बंगाली प्रान्तीयता की जड़ अगर खोदकर देखें तो वहां देखेंगे कि द्विज लोग अपना शासन कायम रखने के लिये विभिन्न प्रान्तीयताओं का इस्तेमाल किया करते हैं।"[1] सामाजिक दृष्टि से उच्चता प्राप्त व्यक्तियों—द्विजों—के हाथ से शासन की बागडोर खिसककर पिछड़े वर्ग की ओर जाती है या जाने की सम्भावना हो जाती है तो ये द्विज प्रतिक्रियावादी शक्तियों से समझौता कर लेते हैं। उनका अन्ततः उद्देश्य सत्ता में बने रहना होता है, अतः तात्कालिक समस्याओं से जनता का ध्यान हटाने के लिए ऐसे स्थानीय तथा उपराष्ट्रवादी मुद्दों–धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि–को लेकर एक संशय का वातावरण पैदा कर दिया जाता है। इनके द्वारा अपनी निजी संस्कृति तथा आधार को खतरे में होने का आव्हान किया जाता है। इस प्रयास के पीछे निहितार्थ को जनता समझ नहीं पाती तथा उनका इनके प्रति कुछ लगाव हो जाता है। यह स्थानीय तथा संकीर्णता की अपील द्विजों को शासन में बने रहने की सबसे सुविधाजनक स्थिति होती है। अतः वे इस तरह की प्रवृत्तियों का खुलकर समर्थन करते हैं। लोहिया ने अपनी इस परिकल्पना

1. लोहिया : भाषा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 72.

मुनेत्र और स्वतन्त्र (ब्राह्मण) मिल गये।"[1] इस प्रकार लोहिया ने माना कि सत्ता में बने रहने के लिए उच्च जातियां जनता की संकीर्ण भावनाओं को उभार कर उपराष्ट्रवाद की समस्या पैदा कर रही हैं। सभी उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों की जड़ में हमारी सामाजिक व्यवस्था रही है। दूसरे शब्दों में उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का आधार सामाजिक व्यवस्था रही है।

लोहिया का मानना है कि एक समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करना है तो आवश्यक है कि राष्ट्रत्व की भावना को अंगीकार किया जाये। इस भावना के अपनाये जाने के उपरान्त ही हम पूरे राष्ट्र को एक समुदाय के रूप में देख सकेंगे। जब समुदाय अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर—चाहे वह स्वार्थ क्षेत्र के आधार पर हो, चाहे धर्म या भाषा के आधार पर—वृहद्पूर्णता की ओर बढ़ेगा, तभी यह सम्भव हो सकेगा कि सम्पूर्ण राष्ट्र की हितवृद्धि हो। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण राष्ट्रीय हितवृद्धि के लिए आवश्यक है कि उपराष्ट्रवादी आस्थाओं को एकीकरण की ओर मोड़ा जाये। जैसाकि लोहिया ने लिखा है: "हिन्दुस्तानी जीवन के चार महान् चालक हैं—जाति, भाषा, धर्म और स्थानिक निष्ठा। जब तक स्थानिक निष्ठा और जाति का नाश नहीं किया जाता और भाषा और धर्म में से फूट डालने और प्राणहीन अपकर्ष करने की क्षमता नहीं खत्म की जाती, तब तक कोई सार्थक काम हो नहीं सकता।"[2] लोहिया ने उप-राष्ट्रवादी आस्थाओं की नींव को कमजोर करने तथा एकीकृत राष्ट्रवाद के विकास हेतु निम्न प्रयासों पर जोर देने का आग्रह किया है:

प्रथम, लोहिया का मानना है कि उपराष्ट्रवादी आस्थाओं का आधार यह रहा कि यहां अनावश्यक रूप से तथा इच्छित लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रजाति, भाषा तथा धर्म के आधार पर भेद पैदा कर दिये गये। इन भेदों के आधार पर ही इतिहास, साहित्य तथा भूगोल की रचना की गयी। जबकि ये भेद मिथ्या धारणाओं पर आधारित है। आज आर्य, द्रविड़, मंगोल आदि के भेद बिल्कुल गलत है। धर्म के आधार पर हिन्दू-मुसलमानों का इतना भेद न होकर यह तो देशी और परदेशी का भेद है। भारतीय भाषाओं में भी कई समान शब्द पाये जाते है। "तमिल का "मैलम" और संस्कृत-हिन्दी का "मयूर" एक ही है। "यू" और 'ऐ' अथवा "र" और "ल" का परिवर्तन भाषाशास्त्र का एक मान्य नियम है। बहुतेरे शब्द इसी तरीके के हैं——... कुछ गिनतियों अथवा कुछ आरम्भिक शब्दों के आधार पर आर्य, द्रविड़, मंगोल

1. लोहिया: भाषा हैदराबाद: नवहिन्द, 1965, पृ. 110.
2. वही, पृ. 125.

को दक्षिण में उठी उपराष्ट्रवादी आस्थाओं के संदर्भ में स्पष्ट करते हुए कहा कि स्वाधीनता उपरान्त राजनीतिक नेतृत्व ब्राह्मण वर्ग से खिसकर गैर-ब्राह्मण वर्ग मे जाने लगा अर्थात् आन्ध्र में रेड्डी, महाराष्ट्र में मराठा, तमिलनाडु मे नाडार और गोउंडर, केरल में नायर आदि जातियो का सरकार पर आधिपत्य हो गया। हालांकि इस गैर-ब्राह्मण वर्ग तथा ब्राह्मणों में कोई विशेष अन्तर नही था। इनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति भी लगभग ब्राह्मण वर्ग की भांति ही थी। अतः "एक जाति के प्रमुत्व की जगह दूसरी जाति आ जाती है, यानी ब्राह्मणो की जगह मराठा या रेड्डी या नायर।"[1] परन्तु इस गैर-ब्राह्मण वर्ग ने सत्ता प्राप्ति के प्रयास में ब्राह्मण विरोधी रुख तो अपनाया ही, किन्तु साथ ही साथ उत्तर विरोधी रुख भी अपनाया। दूसरे शब्दों में उनकी सत्ता प्राप्ति की अपील बहुत कुछ उपराष्ट्रवादी मान्यताओं पर आधारित थी। जनता के समक्ष हिन्दी साम्राज्यवाद का खतरा तथा आर्थिक पक्षपात के आरोप को रखा गया। जहां तक ब्राह्मण वर्ग का सम्बन्ध है, लोहिया के अनुसार यह सही है कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम मे इन्होने प्रमुख भूमिका निभायी। किन्तु स्वाधीनता के बाद सत्ता गैर-ब्राह्मणों के हाथों में जाने लगी तो उन्होंने भी उन्ही साधनों को अपनाने की कोशिश की, जिनको गैर-ब्राह्मण उच्च जातियों ने अपनाना शुरू किया था। "अब वे राष्ट्र की एकता या राष्ट्रभाषा के वाहन नही रहे। लगातार फिसलते-फिसलते वे गैर-ब्राह्मणो की हैसियत में आ गये हैं। तमिलनाडु के ब्राह्मणों को लगा कि उत्तर ने और वहा के औजारों ने उन्हें धोखा दिया, इसलिए वे गैर-ब्राह्मणों के पास पैगाम भेजने लगे और कम से कम उन्हें उसमें कुछ सफलता भी मिल रही है।"[2] इस प्रयास में पहले उन्होंने साम्यवादी दल को और बाद में स्वतन्त्र पार्टी को अपनाया, जिनकी कि धारणाओं मे राष्ट्र की मान्यता को कोई स्थान नहीं मिलता। साथ ही उन्होंने मुदालियारों की पार्टी द्रविड़ मुनेत्र कषगम से समझौता बनाये रखा। "ब्राह्मण महसूस करते हैं कि ब्राह्मण विरोधी धारा को उत्तर विरोधी और हिन्दी विरोधी मोड़ दे देने में ही उनकी खैरियत है और मुदलियार नेतृत्व को चलाने वाले गैर-ब्राह्मण यानि मुनेत्र महसूस करते हैं कि सत्ता हासिल करने के लिए ब्राह्मणों की सूझबूझ उपयोगी होगी। उत्तर विरोधी और एकता विरोधी आग को भड़काने के लिए ही स्वाभाविक रूप से

---

1. लोहिया : भाषा हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 110.
2. वही, पृ 109.

कुबेर और स्कन्द ([illegible]) मिल सके।"[1] इस प्रकार लोहिया ने माना कि सत्ता में बने रहने के लिए उच्च जातियां जनता की संकीर्ण भावनाओं को उभार कर उपराष्ट्रवाद की समस्या पैदा कर रही हैं। सभी उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों की जड़ में हमारी सामाजिक व्यवस्था रही है। दूसरे शब्दों में उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का आधार सामाजिक व्यवस्था रही है।

लोहिया का मानना है कि एक समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करना है तो आवश्यक है कि राष्ट्रत्व की भावना को अंगीकार किया जावे। इस भावना के अपनाये जाने के उपरान्त ही हम पूरे राष्ट्र को एक समुदाय के रूप में देख सकेंगे। जब समुदाय अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर–चाहे वह स्वार्थ क्षेत्र के आधार पर हो, चाहे धर्म या भाषा के आधार पर–वृहद्पूर्णता की ओर बढ़ेगा, तभी यह सम्भव हो सकेगा कि सम्पूर्ण राष्ट्र की हितवृद्धि हो। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण राष्ट्रीय हितवृद्धि के लिए आवश्यक है कि उपराष्ट्रवादी आस्थाओं को एकीकरण की ओर मोड़ा जावे। जैसाकि लोहिया ने लिखा है : "हिन्दुस्तानी जीवन के चार महान् घातक हैं–जाति, भाषा, धर्म और स्थानिक निष्ठा। जब तक स्थानिक निष्ठा और जाति का नाश नहीं किया जाता और भाषा और धर्म में से फूट डालने और प्राणहीन अपकर्ष करने की क्षमता नहीं खत्म की जाती, तब तक कोई सार्थक काम हो नहीं सकता।"[2] लोहिया ने उपराष्ट्रवादी आस्थाओं की नींव को कमजोर करने तथा एकीकृत राष्ट्रवाद के विकास हेतु निम्न प्रयासों पर जोर देने का आग्रह किया है :

प्रथम, लोहिया का मानना है कि उपराष्ट्रवादी आस्थाओं का आधार यह रहा कि यहां अनावश्यक रूप से तथा इच्छित लक्ष्य प्राप्ति हेतु प्रजाति, भाषा तथा धर्म के आधार पर भेद पैदा कर दिये गये। इन भेदों के आधार पर ही इतिहास, साहित्य तथा भूगोल की रचना की गयी। जबकि ये भेद मिथ्या धारणाओं पर आधारित है। आज आर्य, द्रविड़, मंगोल आदि के भेद बिल्कुल गलत है। धर्म के आधार पर हिन्दू-मुसलमानों का इतना भेद न होकर यह तो देशी और परदेशी का भेद है। भारतीय भाषाओं में भी कई समान शब्द पाये जाते हैं। "तमिल का "मैलम" और संस्कृत-हिन्दी का "मयूर" एक ही है। "यू" और "ऐ" अथवा "र" और "ल" का परिवर्तन भाषाशास्त्र का एक मान्य नियम है। बहुतेरे शब्द इसी तरीके से हैं·········· कुछ गिनतियों अथवा कुछ प्रारम्भिक शब्दों के आधार पर आर्य, द्रविड़, मंगोल

1. लोहिया : भाषा हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 110.
2. वही, पृ. 125.

या आस्ट्रिक भाषाओं का बतगड़ खड़े कर देना मूर्खता है। चार हजार वर्ष पहले भी शायद ऐसा नही था। इन तीन हजार वर्षों मे तो बिल्कुल नही रहा।'[1] लोहिया के अनुसार चूंकि ये सभी प्रकार के भेद मिथ्या हैं, अतः हमें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक किसी भी रूप में विभाजनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा नहीं देना चाहिए। हमें अधिक से अधिक ऐसी विशेषताओं, लक्षणों तथा शब्दों को खोजना चाहिए, ताकि उनसे एकता को बढ़ावा मिले। उदाहरण के लिए, हम रामायण को ले सकते हैं। जो कि उत्तर दक्षिण की एकता का महान् ग्रन्थ है। हमारे यहां तमिल में कम्बन की, मराठी में एकनाथ की, बंगाला मे कीर्तिदास की तथा हिन्दी मे तुलसी की रामायण पायी जाती है। इन सभी रामायणों मे से ऐसे तत्व चुने जायें जो एकता को बढ़ावा देते हों। इस दृष्टि से रामायण मेले का महत्व प्रकट करते हुए लोहिया ने लिखा है, *"आनन्द, प्रेम और शान्ति का आह्वान तो रामायण मेले का मुख्य प्रयोजन है* ही, पर हिन्दुस्तान की एकता जैसे साम्प्रतिक लक्ष्य भी प्राप्त किये जायेंगे। *सभी जानते है कि राम हिन्दुस्तान के उत्तर-दक्षिण की एकता के देवता थे,* कि पूर्व-पश्चिम एकता के देवता थे कृष्ण, और कि आधुनिक भाषाओं का मूल स्रोत रामकथा है।"[2]

द्वितीय, नृशास्त्रियों, भूगोलवेत्ताओं तथा इतिहासकारों को अध्ययन तथा शोध करके ऐसे प्रतीक ढूंढने का प्रयास करना चाहिए, जिससे भावात्मक एकता विकसित करने की कोशिश की जा सके। उन्होंने स्वयं पुराणों, कथाओं, इतिहास तथा तीर्थकेन्द्रों का हवाला देकर भारत की सारभूत एकता स्थापित करने की कोशिश की। लोहिया ने अपने लेख "भारतीय जन की एकता" में उन प्रतीकात्मक चिन्हों का उल्लेख *किया है,* जो भारत के एक भाग को दूसरे भाग तथा एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय से जोड़ते हैं। इस सन्दर्भ में लोहिया के अनुसार, *"शवरी" शब्द सबसे प्रमुख है। सर्वप्रथम यह शब्द उस औरत के* नाम के रूप मे आया, जिसने राम को अपने दांतों से कुतर कर झूठे बेर दिये। फिर "शवरी" शब्द उडीसा की उस आदिवासी जाति के नाम के रूप में आता है, जिसने लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भगवान जगन्नाथ की मूर्ति चुरायी थी। यही शब्द सुदूर दक्षिण मे मिलता है, यह केरल के पवित्रतम मन्दिर में से एक है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय जनता के एक बहुत विशाल वर्ग का नाम

1. चौखम्भा, वर्ष-4, अंक 37, संख्या 156, 3 जुलाई 1961, पृ. 5.
2. लोहिया : मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, हैदराबाद : नवहिन्द, 1962, पृ. 35.

"शबरी" है। यह वर्ग करीब-करीब समस्त भारत में फैला हुआ है। लोहिया के अनुसार यह एक ऐसा प्रतीकात्मक शब्द है, जिनके आधार पर भारतीय एकता का सृजन किया जा सकता है।[1] इसी तरह एक दूसरा शब्द "मेहर" है, जो पोरबन्दर के आसपास के क्षेत्रवासियों तथा राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर बसे सिन्धियों के लिए आता है। लोहिया का कहना है कि पोरबदर के आसपास "मेहर" शब्द हिन्दू आदिवासियों तथा राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर मुसलमानों के लिए आता है। अतः यह शब्द एक प्रतीक रूप में हिन्दू-मुसलमानों की एकता का आधार हो सकता है। इसी तरह लोहिया ने अन्य कई प्रतीकात्मक शब्दों को लिया हैं, जो भारतीय एकता के आधार हो सकते हैं। भाषायी एकीकरण के लिये "वघेरो या बघेलों", पिछड़ी तथा आदिवासी जातियों के मध्य सम्बन्ध के लिये "संतवार" तथा क्षेत्रीय एकीकरण के लिये "कड़प्पा" शब्द लिये। ये ऐसे आधार हैं, जिन पर भारतीय जनता की भावात्मक एकीकरण को संगठित किया जा सकता है तथा एकीकृत राष्ट्रवाद को बढ़ावा दे सकते हैं।

सामान्यतः यह तर्क दिया जाता है कि जब हमारे यहाँ इतनी सांस्कृतिक एकता की बुनियाद पायी जाती है तो नागा-समस्या, पंजाब समस्या तथा दक्षिण में द्रविड़ों की समस्या क्यों उग्र रूप धारण किये हुए है? निरन्तर अलग होने की मांग क्यों उठ रही है? इस संदर्भ में लोहिया का मानना है कि इन सभी का कारण हमारी सांस्कृतिक एकता की कमी नहीं है, वरन् तो हमारी शासन व्यवस्था द्वारा बरती गयी नीति का परिणाम है। इन समस्याओं के प्रति मनोवैज्ञानिक तथा राजकौशल का उदार उपचार काम में लाने के बजाय प्रशासन ने कुत्सित अहंकार का आचरण किया और जोर-जबरदस्ती का प्रदर्शन और इस्तेमाल किया गया।[2] अतः लोहिया ने माना है कि ये समस्यायें अस्थायी हैं तथा आपसी सौहार्द-विनम्रता की भावना तथा आपसी विश्वास द्वारा मिटायी जा सकती हैं। लोहिया ने लिखा है: "ये सब तो सामयिक ग्रहण हैं। हिन्दुस्तान जब आज के नकली और झूठे झगड़ों से पार हो जायेगा, तो कलाकृतियों के ढग से और भी अच्छे नतीजे निकलेंगे। देश की सांस्कृतिक एकता पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा।"[3]

---

1. लोहिया : इन्टरवल ड्यूरिंग पॉलिटिक्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 124.
2. लोहिया : भारत, चीन और उत्तरी सीमाएँ, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 84.
3. लोहिया : मर्यादित उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, हैदराबाद : नवहिन्द, 1962, पृ. 24-25.

तृतीय, लोहिया के अनुसार उपराष्ट्रवादी आस्थायें और प्रवृत्तियां वर्तमान व्यवस्था की देन हैं। अपनी संकीर्ण स्वार्थपूर्ति हेतु वर्तमान व्यवस्था के संचालक जनता मे कई प्रकार के भेद–भाषा, क्षेत्र, धर्म आदि–पैदा कर देते हैं तथा जनता की संकीर्ण आस्थाओं को उभारकर शासक निरन्तर सत्ता मे बने रहने का प्रयास करते है। "मध्यम वर्ग का काम है ऐसी विषमताओं को सुरक्षित रखना और इस तरह राष्ट्रीय एकता को कमजोर करना या राष्ट्र के समय को नष्ट करना।"[1] अतः आवश्यक है कि समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया जाये। समाजवादी व्यवस्था ही वह आधार प्रस्तुत करती है, जिसमे व्यक्ति, समुदाय तथा राष्ट्र की पूर्णता सम्भव हो पाती है, सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता मे ही राष्ट्र निर्माण का आदर्श पूरा हो सकता है। "राज को इकाई बनाये रखने का क्या तरीका हो सकता है ? देश की इकाई ही राज की इकाई को बनाये रख सकती है। देश की इकाई के माने है जनता की इकाई, जन-साधारण की इकाई। अगर जनता की इकाई कायम रही तो राज की इकाई खुदबखुद कायम हो जायेगी"[2] चूंकि जनता की इकाई कायम होने की सम्भावना सबसे ज्यादा समाजवादी व्यवस्था मे ही है, अतः उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियो को एकीकरण की ओर मोड़ने का सबसे प्रभावी प्रयास यही होगा।

लोहिया द्वारा प्रस्तुत उपराष्ट्रवाद के कारण तथा उनके द्वारा सुझाये गये समाधान के तरीके, आलोचनात्मक विश्लेषण मे काफी प्रभावी जान पड़ते हैं। प्रश्न है क्या किसी उपराष्ट्रवादी आन्दोलन का आधार जनता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया रही ? क्या उपराष्ट्रवादी आन्दोलन का लक्ष्य भाषा या क्षेत्र या धर्म के आधार पर जन-सामान्य की उन्नति या विकास रहा है ? अगर उपराष्ट्रवादी आन्दोलन की चरम परिणति–देश विघटन–हुई तो क्या उस आधार पर जिस पर कि यह आन्दोलन आधारित था, उस सारे वर्ग की सम्पूर्ण सामाजिक तथा राष्ट्रीयता पूर्णता सम्भव हो पायेगी ? जब हम इन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करते हैं तो लोहिया की स्थिति सार्थक लगने लगती है। आज की व्यावहारिक परिस्थितियो मे भी देखें तो लोहिया का यह मानना सही है कि हमारे यहां की किसी भी उपराष्ट्रवादी प्रवृत्ति को जड़ राजनीतिज्ञों की सत्ता प्राप्ति की चाह में अपनाये गये संकीर्ण दृष्टिकोण तथा साधन हैं। नेतृत्व वर्ग अपनी निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु जनता की संकीर्ण

1. लोहिया : खोज, वर्णमाला, विषमता, एकता, हैदराबाद : समाजवादी प्रकाशन, 1960, पृ 9.
2. संघर्ष, वर्ष 5, अंक 32, 5 मार्च, 1947, पृ. 1.

भावनाओं को उभारता है। इस हेतु कही भाषा का आधार ढूंढा जाता है तो कही धर्म या क्षेत्र का। क्या किसी भी राजनीतिक दल या राजनीतिक नेता ने सम्पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में निर्णय लिया है। दूसरे शब्दों मे, क्या उनकी राजनीतिक गतिविधियों का आधार राष्ट्रीय पूर्णता रहा। उत्तर नकारात्मक ही होगा, क्योकि हो सकता है सम्पूर्ण राष्ट्रीय संदर्भ मे लिये गये निर्णय या आव्हान से उन्हें ही शासन सत्ता से वंचित होना पडे। जबकि हमारा शासक वर्ग ऐसे किसी भी खतरे को उठाने के लिए तैयार नही है। अतः उनका प्रयास यही होता है कि किसी उपराष्ट्रवादी आस्था को लेकर जनता में भय का कृत्रिम वातावरण तैयार किया जाए। चूंकि सामान्य जनता से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि वह शासक वर्ग के हर चालाकी युक्त कदम की वास्तविकता को खोज सके। फलतः स्थिति विकृत हो जाती है तथा उप-राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिलता है। हालाकि यह सही है कि देश में असमान आर्थिक विकास, भाषा समस्या, अल्पसंख्यक समुदायो की संस्कृति के अस्तित्व का खतरा आदि कुछ समस्यायें मौजूद हैं। किन्तु फिर भी *यह प्रश्न उठता है* कि इन समस्याओं का कारण क्या रहा ? सम्पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ मे निर्णय लेने पर भी ये समस्यायें बनी रहेंगी ? अगर नहीं तो, लोहिया का कहना सही है कि ये तो अभिजन वर्ग की स्वार्थपूर्ति हेतु उत्पन्न कृत्रिम समस्यायें हैं।

द्वितीय लोहिया ने बौद्धिक वर्ग की, समुदायो की कुछ विशेषताओ को लेकर उनसे समाज की भिन्नता को सैद्धान्तिक अमली जामा पहनाने की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए उनसे आकाक्षा की है कि वे धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर ऐसे समान तत्वों को खोजें, जिन पर राष्ट्रवादी भावनाओ को विकसित किया जा सके। लोहिया की बौद्धिक वर्ग के प्रति यह जो स्थिति रही, वह दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है : प्रथम, जैसाकि हमने पिछले अध्याय मे विस्तृत रूप देखा कि अगर समाज को टुकड़ो तथा वर्गों मे देखा गया या उसके किसी एक आधार को लेकर सामाजिक पूर्णता की कल्पना की गयी अथवा सामाजिक रूपान्तरण की योजना तय की गयी तो उसमे हम असफल ही होंगे। सामाजिक जीवन का एक पहलू दूसरे से जुडा होता है। अतः सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता समग्रतायुक्त दृष्टिकोण में ही सम्भव होती है। द्वितीय, यह स्पष्ट है कि राष्ट्रत्व की मान्यता का आधार भावना होती है। अतः जब तक भावनात्मक एकीकरण को बढावा नहीं मिलता, तब तक इस हेतु किये गये किसी भी प्रयास की सार्थकता पर प्रश्नचिन्ह लगा रहता है। इस संदर्भ मे लोहिया की बौद्धिक वर्ग से यह आशा करना कि वे भिन्न-भिन्न वर्गों से ऐसे समान तत्वों को ढूंढे, जिनके आधार पर हम एकीकृत भावनाओं को

बढ़ावा दे सकें, काफी उपयोगी जान पड़ती है। जब समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री आदि समग्रतायुक्त दृष्टि से समाज में समान तत्वों को उभार कर मानसिक रूपान्तरण का आधार तैयार करेंगे, तो स्वतः उपराष्ट्रवादी आस्थाओं में कमी आयेगी। यहीं हम लोहिया तथा नरेन्द्र देव की स्थिति में अन्तर पाते हैं। लोहिया से भिन्न नरेन्द्र देव ने राष्ट्रीय एकता हेतु देश की विभिन्नता के साथ बाह्य रूप से किसी एक समान प्रारूप–समान कानूनी व्यवस्था, समान आर्थिक विकास की पद्धति आदि–को लागू करने की आवश्यकता पर जोर दिया।[1] किन्तु फिर यह प्रश्न उभर कर आता है कि जब तक मानसिक स्तर पर विभिन्नता बनी रहती है, तब तक क्या किसी बाह्य समान प्रारूप द्वारा उपराष्ट्रवादी आस्थाओं का समाधान सम्भव हो पायेगा ?

तृतीय, लोहिया की समाजवादी दार्शनिक व्यवस्था के मूल्यों में उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को कोई स्थान नहीं मिलता है। उन्होंने सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता का जो आदर्श प्रस्तुत किया, उसमें प्रत्येक वर्ग की हर दृष्टि से पूर्णता संभव होती है। अतः वहां राष्ट्रीय पूर्णता तथा एक वर्ग, जो कि भाषा या धर्म या क्षेत्र के आधार को लेकर उपराष्ट्रवादी वातावरण तैयार करता है, की पूर्णता में कोई टकराहट या द्वन्द्व की स्थिति नहीं पायी जाती। किन्तु लोहिया को हम यह अग्रिम दृष्टि ही कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी राजनीतिक व्यवस्था–चौखम्भा राज्य योजना–को भी उपराष्ट्रवाद के समाधान के साथ जोड़कर देखा। जैसाकि तीसरे अध्याय में हम विवेचना कर चुके हैं, लोहिया ने माना है कि जब राजनीतिक शक्ति विकेन्द्रित होकर नीचे के स्तर पर पहुंचेगी तो स्वाभाविक है कि लघु इकाई के रूप में प्रत्येक समुदाय की पूर्णता प्राप्त होगी। जब उस समुदाय को स्वयं अपनी जीवन पद्धति तथा अपनी भाषा तय करने का अधिकार होगा तो निश्चित रूप से क्षेत्रवाद जैसी उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियां दब जायेंगी।[2] लोहिया ने चौखम्भा व्यवस्था में एक तरफ गांव, मण्डल, प्रान्त तथा केन्द्र के मध्य नियमों का व्यापक प्रावधान किया है, ताकि किसी भी प्रकार के आपसी टकराहट को रोका जा सके तथा दूसरी तरफ वे केन्द्रीय सरकार से यह भी अपेक्षा करते हैं कि वह सत्ता वितरण के उन सभी स्तरों पर पाये जाने वाले समान तत्वों को बनाये रखे। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोहिया ने राजनीतिक व्यवस्था के स्तर पर, उपराष्ट्रवाद को

---

1. देव, नरेन्द्र : प्रजा सोशलिस्ट पार्टी : द्वितीय राष्ट्रीय सम्मेलन, गया, 1952, पृ. 3.
2. लोहिया : "द फॉर सिलर स्टेट" मैनकाइण्ड, वो. 14, न. 4, जून 1970, पृ. 34.

राष्ट्रीय पूर्णता के रूप में विवेचित करके, उचित समाधान के रूप में उसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

2. भाषा समस्या

हमारे यहा उपराष्ट्रवादी आस्थाओं में भाषा की भी प्रमुख समस्या रही है, किन्तु लोहिया का मानना है कि यह तो अभिजन वर्ग द्वारा सामान्य जनता का तात्कालिक सामाजिक-आर्थिक समस्याओ से ध्यान हटाने हेतु कृत्रिम समस्या पैदा की गयी है। सामान्य जनता मे भाषा को लेकर एक भ्रम का वातावरण पैदा किया जाता है, ताकि उसका ध्यान व्यवस्था की कमियों से हटता रहे तथा उच्च वर्ग की सत्ता को किसी प्रकार का खतरा पैदा न हो। "चोरो-डाकुओ की तरह, जो लोगो का ध्यान बंटाने के लिए आग लग गयी–आग लग गयी का झूंठा शोर मचा देते हैं और इस बीच अपना काम कर लेते हैं, पार्टियां और कुछ व्यक्ति जनता का ध्यान बंटाने की खातिर और अपने हाथ से खिसकती सत्ता को पकड़े रहने के लिए भाषा सम्बन्धी आग भड़का रहे हैं।"[1]

लोहिया ने अनुसार भाषा समस्या को उत्तर तथा दक्षिण के संदर्भ में नही सोचना चाहिये, वरन् इसे मध्य देश तथा तटवर्ती प्रान्त वालो के वृत्त मे रखकर देखना चाहिये। जिस प्रकार मध्य प्रान्तों मे शासन सत्ता प्राप्ति के फलस्वरूप एक मध्यम वर्ग उभरा, उसी प्रकार तटवर्ती प्रान्तो मे भी अंग्रेजों के प्रारम्भिक रूप से आगमन तथा विकास के साधनो की वृद्धि के कारण यहां भी एक मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। आज दोनों क्षेत्रो के मध्यम वर्ग को शासन से दूर होने की भयकर समस्या का सामना करना पड़ रहा है। अत: उन्होने अपने को निरन्तर सत्ता मे बनाये रखने हेतु भाषा समस्या को जन्म दे डाला। तटवर्ती मध्यमवर्ग जनता के समक्ष हिन्दी साम्राज्यवाद का खतरा खड़ा कर उनकी संकीर्ण उपराष्ट्रवादी आस्थाओं को बढ़ा रहे हैं तो मध्य देश के राष्ट्र केविघटन का खतरा खड़ा करते हैं। "भारतीय जनता कैंची के बीच आ गयी है, जिसका एक फल तो है तटवालों का हिन्दी साम्राज्यवाद का नारा, और दूसरा है देश की टूट का मध्य सूबो का नारा............हिन्दी साम्राज्यवाद का नारा लगाकर तट वाले उच्चवर्ग अपनी जनता को धोखा देते हैं। राष्ट्रीय टूट का नारा लगाकर मध्य सूबों के उच्चवर्ग अपनी जनता को धोखा देते हैं।"[2]

---

1. लोहिया : भाषा, हैदराबाद : नवहिंद, 1964, पृ. 1.
2. वही, पृ. 149.

अतः लोहिया का यह निष्कर्ष रहा है कि भाषा की समस्या जनता की स्वाभाविक समस्या न होकर निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु यह जानबूझकर खड़ी की गयी समस्या है।

सभी भाषायी इलाकों के उच्च वर्ग द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि अगर देश को एक इकाई के रूप में बनाये रखना है तो आवश्यक है कि भाषा के रूप में अंग्रेजी को स्वीकार किया जाये। दूसरे शब्दों में, देश को विघटन से बचाने के लिए जरूरी है कि अंग्रेजी को अपनाया जाये। किन्तु लोहिया का मानना है कि अंग्रेजी भाषा के प्रचलन का न तो देश की एकता से कोई संबंध है और न ही इसके द्वारा हम समाजवादी व्यवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। जहां तक अंग्रेजी भाषा और देश की एकता का प्रश्न है, लोहिया का मानना है कि अंग्रेजी अनुकरणकर्ता हिन्दी की भांति अपनी क्षेत्रीय भाषाओं-तेलुगु, तमिल, बंगाली आदि के भी विरोधी हैं। अतः भाषा के आधार पर उठी मांगों का क्या अंग्रेजी द्वारा समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं? क्या अंग्रेजी द्वारा विभिन्न भाषाओं का प्रकटीकरण सम्भव हो पायेगा? जब यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी द्वारा भाषा समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकते तो यह मान लेना कि देश की एकता के लिए अंग्रेजी आवश्यक है, गलत होगा। लोहिया के अनुसार शासक वर्ग अंग्रेजी के प्रचलन का इसलिए समर्थक नहीं है कि इससे देश की सारभूत एकता स्थापित होगी, बल्कि यह तो उनको शासन-सत्ता में बनाये रखने का एक साधन है। हिन्दी भाषी सामान्य जनता की भांति समान रूप से तमिल, तेलुगु, मराठी भाषी लोगों के लिए भी अंग्रेजी की पहुंच बहुत दूर की चीज है। अतः उच्च वर्ग सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी के सहारे अपने को सत्ता में बनाये रखने का प्रयास करता है। लोहिया के शब्दों में : "अंग्रेजी पढ़े-लिखे 40 लाख व्यक्ति हिन्दुस्तान की गद्दी पर कब्जा जमाये हैं - उनके लिये अंग्रेजी भाषा डूबते हुए के लिये तिनके के सहारे के समान है। वे जानते हैं कि अंग्रजी हटाने से सरकार, कानून, मजदूर संगठन, सार्वजनिक संस्था और नेता—सभी को 40 करोड की ओर अभिमुख होना पडेगा। यह महान् क्रांति होगी। सामन्तशाही का सारा ढाचा ढीला हो जाएगा।"[1] इसी कारण जब कभी अंग्रेजी को हटाकर लोक भाषाओं—तेलुगु, तमिल, असमी, बंगाली—के प्रतिष्ठित करने का सवाल उठता है, तो वे डर जाते हैं और देश के विघटन का नारा लगाया जाता है। अतः ऐसी स्थिति में अंग्रेजी का देश के एकीकरण के साथ सम्बन्ध जोड़ना अनौचित्यपूर्ण होगा।

---

1. लोहिया : भाषा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 30.

द्वितीय, अंग्रेजी भाषा के प्रचलन द्वारा समाजवादी व्यवस्था की प्राप्ति भी असम्भव होगी, क्योंकि समाजवादी व्यवस्था का आदर्श समानता में होता है, जबकि हमारे यहां प्रचलित जातीय पदसोपानीय स्थिति तथा आर्थिक गैर-बराबरी को बढावा देने में अंग्रेजी एक सहायक तत्व के रूप मे रही है। लोहिया ने लिखा है : "अपने देश मे पहले से ही अमीरी-गरीबी, जात-पांत, धर्म और पढ़े-बेपढे के आधार पर एक जबरदस्त खाई है। यह विदेशी भाषा उस खाई को और चौड़ा कर रही है।"[1] हमारे यहां अंग्रेजी का स्वरूप सामन्ती रहा है। उदाहरण के लिए, किसी जमाने में सस्कृत, अरबी तथा फारसी सामन्ती भाषा थी। उसी प्रकार आज अंग्रेजी सामन्ती भाषा है। हमेशा से शासक किसी एक विशिष्ट भाषा द्वारा शासितों से अपने को अलग कर लेता है तथा उस भाषा को सामान्य जनता की पहुच से दूर बना देता है। फलतः जनता मे हीन भावना घर कर जाती है। उनको लगता है कि शासक उनसे बहुत ऊंचा है और वे इतने नीचे है कि राजकाज चलाना उनके बस की बात नही है। सामंती चरित्र होने के कारण आज अंग्रेजी अधिकांश जनता को राष्ट्रीय जीवन से दूर कर रही है। प्रत्येक प्रकार की सरकारी नौकरियों मे चयन का आधार विषय-वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा अंग्रेजी की जानकारी होती है। जिसके कारण बहुत बड़े भाग को अपनी योग्यता तथा अभिव्यक्ति प्रकट करने का मौका ही नही मिल पाता और निराश होकर उन्हें इन सभी से दूर रहना पड़ता है। "सबसे बुरा तो यह है कि अंग्रेजी के कारण भारतीय जनता अपने को हीन समझती है। वह अंग्रेजी नहीं समझती इसलिए सोचती है कि वह किसी भी सार्वजनिक काम के लायक नही है और मैदान छोड़ देती है। जन-साधारण द्वारा इस तरह मैदान छोड़ देने के कारण ही अल्पमत या सामन्ती राज की बुनियाद पड़ी। सिर्फ बन्दूक के जरिये नही, बल्कि ज्यादा तो गिटपिट भाषा के जरिये लोगो को दबा कर रखा जाता। लोकभाषा के बिना लोकराज असम्भव है।"[2] अतः अंग्रेजी एक ऐसे बाधक तत्व के रूप मे सामने आती है जो समाज के अधिकांश हिस्से को राष्ट्रीय धारा से विमुख कर देती है। अंग्रेजी के कारण सम्पूर्ण गतिविधियां सिमटकर एक वर्ग में सीमित हो जाती हैं। फलतः अंग्रेजी द्वारा हम केवल "वर्ग राजनीति" चला सकते हैं, "समाजवादी राजनीति" नहीं। अल्पवर्ग की स्वार्थपूर्ति का साधन होने के कारण अंग्रेजी द्वारा सामाजिक पूर्णता की प्राप्ति असम्भव होती है। अतः स्वयं

---

1. लोहिया : भाषा, हैदराबाद · नवहिन्द, 1965, पृ. 9.
2. वही, पृ. 155.

अंग्रेजी एक उपराष्ट्रवादी प्रवृत्ति के रूप में सामने आती है, क्योंकि एक वर्ग अंग्रेजी द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र की कीमत पर अपने स्वार्थों की सिद्धि करता है।

लोहिया के अनुसार अंग्रेजी द्वारा न तो हम भाषा समस्या को दूर कर सकते हैं और न ही सामाजिक पूर्णता की प्राप्ति संभव है। अतः आवश्यक है कि हमे नयी भाषा नीति तय करनी चाहिये, जिससे इन दोनों समस्याओं का निराकरण कर सकें। इस दृष्टि से उन्होंने निम्न निर्देशक रेखायें सुझायी हैं :—

प्रथम, अंग्रेजी को सार्वजनिक जीवन से पूर्णतः समाप्त कर दिया जाये। सामाजिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि सभी गतिविधियां सामान्य जनता की भाषा मे चलायी जायें। भाषा सामूहिक व्यक्तित्व का प्रकटीकरण होती है. अतः हमे वही भाषा मान्य होगी, जिसमे इस प्रकटीकरण को मूर्त अभिव्यक्ति मिले। चूंकि सामन्ती प्रकृति होने के कारण अंग्रेजी एक बाधक तत्व के रूप में सामने आती है, अतः उसे तत्काल तथा पूर्णतः खत्म कर देना चाहिये। लोहिया ने लिखा है : "अंग्रेजी हटाने का सम्बन्ध देश मे लोकतन्त्र व समानता प्रस्थापित करने के प्रयासों से है। अंग्रेजी के रहते प्रजातन्त्र झूठा है। अंग्रेजी रहने से समानता भी असम्भव है।"[1]

अंग्रेजी हटाने के लिए लोहिया ने एक जन-स्तर पर व्यापक आन्दोलन चलाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस हेतु उन्होंने जगह-जगह पर "अंग्रेजी हटाओ" समितियां बनाये जाने की वकालत की। इन समितियों की व्यापकता के लिए समाज के सभी वर्गों–शिक्षक साहित्यकार, विद्यार्थी, किसान, दुकानदार, मजदूर, वकील, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि–को इनमें प्रतिनिधित्व दिया जाये। प्रारम्भिक स्तर पर इन समितियो के दो काम विशेष रूप से होनी चाहिऐं - (क) नामपटो से अंग्रेजी भाषा तथा अक्षर हटाकर उनके स्थान पर हिन्दी या बगाली, तेलुगु, मराठी, तमिल आदि में नामपट लिखें। (ख) स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थियों को इस हेतु तैयार कर लिया जाये कि वे अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाने वाले को अस्वीकार करें। किन्तु कालांतर मे चलकर इन समितियों का लक्ष्य सभी जगह से अंग्रेजी हटाने का होना चाहिए।

द्वितीय, लोहिया का मानना है कि अगर भाषागत राज्यों की मांग का सामना करना है तो ऐसे सभी क्षेत्रो को द्विभाषिक घोषित कर देना चाहिए।

1. लोहिया : भाषा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965, पृ. 222.

केन्द्र की भाषा हिन्दी रहे और हर प्रान्त में अपनी-अपनी भाषा चले। केन्द्र का राज्यों से व्यवहार हिन्दी में हो और जब तक कि वे हिन्दी न जान लें, केन्द्र को अपनी भाषाओं मे लिखें। स्नातक स्तर तक की पढ़ाई का माध्यम अपनी क्षेत्रीय भाषायें हो और उसके बाद का हिन्दी मे। बी. ए. तक अपनी भाषाओं के साथ हिन्दी भी वैकल्पिक विषय रहे। छोटी अदालतों का काम अपनी भाषाओं मे हो तथा उच्च और सर्वोच्च न्यायालय में हिन्दी होनी चाहिए। लोकसभा में भाषण साधारणतः हिन्दुस्तानी मे हों, लेकिन जो हिन्दी न जानते हो वे अपनी भाषाओं मे बोलें। लोहिया के अनुसार इस द्विभाषा नीति को अपनाए जाने के फलस्वरूप एक तरफ क्षेत्रीय भाषाओं की मांग की पूर्ति हो जायेगी तो दूसरी तरफ हिन्दी द्वारा इन सभी को हम एकीकरण के सूत्र में पिरोये रख कर सकेंगे। दूसरे शब्दों मे, भाषा के आधार पर चल रहे उपराष्ट्रवाद का समाधान इस नीति द्वारा ही संभव हो सकता है।

तृतीय, राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी को स्वीकार किया जाये। लोहिया के अनुसार यह साधारण सा तर्क होगा कि अगर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो गैर हिन्दी प्रान्त वाले सरकारी नौकरियों में पिछड़ जायेंगे। किन्तु इनके लिए हमें दस वर्षों तक केन्द्रीय सरकार के राजपत्रित पदों पर गैर हिन्दी प्रान्तों का आरक्षण शुरू कर देना चाहिये। हो सकता है इस आरक्षण योजना से हिन्दी भाषी प्रान्तों को नुकसान उठाना पड़े, किन्तु यह तो राष्ट्रीय पूर्णता का प्रश्न है। अगर इस नीति द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र की आत्म-पूर्णता सम्भव होती है तो हमे इस नुकसान को सहन करना चाहिये। जैसाकि लोहिया ने लिखा है: "अगर अंग्रेजी फौरन खत्म हो जाती है और हिन्दी चलने लगती है तो हिन्दी इलाके वाले 10-12 हजार लोगों को ही नुकसान होगा, जिनको गैर हिन्दी इलाके के लोगों की नौकरियों के सरक्षण की वजह से दिल्ली में गजटो नौकरियां न मिलेंगी। लेकिन फायदा तो 20 करोड़ जनता का होगा। 10-20 हजार लोगों के फायदे के लिए 20 करोड़ जनता का क्यों नुकसान किया जाये।"[1]

इस प्रकार से लोहिया ने माना है कि भाषा समस्या मुख्यत: उच्च वर्ग की देन है, जो हिन्दी साम्राज्यवाद और राष्ट्र विघटन के तर्क पर अंग्रेजी को बनाये रखना चाहते हैं। चूंकि अंग्रेजी आम आदमी की भाषा नही है, परिणामस्वरूप इससे समाजिक पूर्णता की आशा करना निरर्थक है। अतः

1. लोहिया : भाषा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964, पृ. 21.

अंग्रेजी को खत्म कर दिया जाये तथा हिन्दी को राष्ट्र भाषा मान लिया जाये। किन्तु हिन्दी प्रान्तों को अपनी गतिविधियों अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में चलाने का अधिकार होना चाहिये और केन्द्रीय सरकारी नौकरियों मे विशेष रियायत दी जानी चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि लोहिया द्वारा प्रस्तुत भाषा सम्बन्धी सुझावों की कितनी सार्थकता है। कुछ आलोचकों का सवाल है कि लोहिया द्वारा प्रस्तुत द्विभाषा नीति में क्या केन्द्र और प्रान्तों में टकराव की सम्भावना नहीं रहती ? क्या उत्तरी भारत के लोग दक्षिण को दिए गए आरक्षण को स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लेंगे ? क्या लोहिया का अन्ततः प्रयास हिन्दी लागू करना नही रहा ? हालांकि लोहिया के प्रति ये गम्भीर आरोप रहे है। किन्तु लोहिया के सम्पूर्ण चिन्तन के संदर्भ में उनकी स्थिति का विश्लेषण करते हैं तो उनकी स्थिति काफी प्रभावी लगती है। जहां तक द्विभाषा नीति का प्रश्न है, यह सही है कि हिन्दी हम पूरे देश पर थोप नही सकते तथा अंग्रेजी हर भाषा के सामान्य व्यक्ति की पहुंच से दूर है। अतः हमें भाषा समस्या सुलझाने हेतु कोई तो विकल्प निर्धारित करना ही पड़ेगा। इस विकल्प निर्धारण में लोहिया ने जो द्वि-भाषा नीति का प्रारूप प्रस्तुत किया उसमें हर प्रान्त को अपने निजी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भाषा को अपनाये जाने पर जोर दिया, ताकि उस क्षेत्र को अपनी भाषा की पूर्णता का पूरा-पूरा अवसर मिल सके। किन्तु सम्पर्क भाषा के रूप मे हिन्दी रहे। साथ ही लोहिया की इस नीति मे आपसी टकराव की सम्भावना इसलिए भी कम हो जाती है कि उन्होने केन्द्र तथा प्रान्तों के मध्य हिन्दी तथा उनकी क्षेत्रीय भाषा का किस संदर्भ में कितना क्या महत्व होगा, उस व्यापक रूप से परिभाषित किया है। भाषायी आरक्षण के संदर्भ मे लोहिया की स्वय की स्थिति इसलिए महत्वपूर्ण बन जाती है कि उन्होने इसका लक्ष्य राष्ट्रीयपूर्णता माना है। जब किसी भी नीति का निर्धारण राष्ट्रीय पूर्णता के संदर्भ मे होगा तो यह प्रश्न गौण हो जाता है कि किसी विशिष्ट वर्ग द्वारा उसका विरोध किया जाएगा। साथ ही यह भी प्रश्न है कि क्या सामाजिक तथा राष्ट्रीय पूर्णता के परिप्रेक्ष्य मे विरोध करने वाले वर्ग की पूर्णता सम्भव नही होगी। अतः जब लोहिया दक्षिण भारत को भाषायी आरक्षण प्रदान करते हैं तो वे पूरे राष्ट्र की पूर्णता के संदर्भ मे निर्णय ले रहे हैं। अन्तिम, लोहिया पर हिन्दी समर्थक होने का आरोप इसलिए भी गलत है, क्योकि लोहिया हिन्दी को केवल सम्पर्क भाषा के रूप में ले रहे हैं, उससे अधिक नहीं। साथ ही, भारत की किसी भी अन्य भाषा के अलावा हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो कई प्रान्तों में बोली जाती

है । अतः किसी भी अन्य भाषा को सम्पर्क भाषा बनाने की अपेक्षा, हिन्दी को इस रूप में स्वीकार करना ज्यादा सही होगा । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोहिया की भाषा नीति अपनी महत्ता लिए हुए है ।

3 साम्प्रदायिक समस्या

भाषा की भांति उपराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों में साम्प्रदायिक संघर्ष भी एक समस्या रही है । साम्प्रदायिक समस्या से हमारा यहां पर तात्पर्य हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता से है, क्योंकि हमारे यहां साम्प्रदायिकता की समस्या मुख्यतः हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की समस्या रही है । अतः यहां हम उपराष्ट्र-वादी प्रवृत्ति के रूप में साम्प्रदायिक समस्या मे लोहिया द्वारा प्रस्तुत किए गए हिन्दू-मुस्लिम तनाव के कारण तथा उसके समाधान के सुझावों का ही विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे ।

लोहिया के अनुसार हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का सबसे प्रमुख कारण यह रहा कि काफी लम्बे समय से हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्धो में पृथक्ता तथा समीपता की एक भ्रमपूर्ण धारणा चलती रही । जबकि इन्होने अपने वास्तविक पारस्परिक सम्बन्धता को गहरायी से नही देखा । फलतः उनमें एक राष्ट्र के प्रति भावनात्मक एकता उभर नही सकी और उपराष्ट्रवादी आस्थाओं को प्रमुख स्थान मिला । लोहिया का मानना है कि हमारे यहां समस्या "देशी और परदेशी" की रही है, न कि हिन्दू और मुसलमान के सम्बन्धो की । सबसे पहले अरब के मुसमान आये, ये परदेशी थे । उन्होने यहां के राज को खत्म किया । फिर वे धीरे-धीरे देशी बन गए । लेकिन जब वे देशी बन गये तो फिर एक दूसरी लहर परदेशियों की आयी । फिर वे परदेशी लहरें भी कालातर में दशी बन गए और फिर दूसरी लहर आई इन सभी मे परदेशियो ने इन देशी मुसलमानो को उसी तरह कत्ल किया, जिस तरह से हिन्दुओं को । लोहिया ने अपनी पुस्तक, भारत विभाजन के गुनाहगार की भूमिका मे लिखा है : "भारत का मध्यकालीन इतिहास जितना हिन्दू और मुसलमान क युद्ध का इतिहास रहा है, उतना ही वह मुसलमान और मुसलमान के युद्ध का भी है । आक्रमणकारी मुसलमान, देशी मुसलमान से लड़ा और उन पर विजयी हुआ । पांच बार देशी मुसलमान अपनी आजादी की रक्षा करने में असमर्थ रहे । वे लोग नादिरशाह और तैमूर जैसों द्वारा कत्लेआम के शिकार हुये हैं । मुगल तैमूर ने देशी पठानों को कत्ल किया और ईरानी नादिरशाह ने देशी

1. संघर्ष, वर्ष 3, अंक 10, 11 मार्च, 1940, पृ. 4.

मुगलों को कत्ल किया।"[1] इस तरह यह झगड़ा हिन्दू और मुसलमान का नहीं बल्कि "देशी-परदेशी" का रहा। आक्रमणकारी जो समय के फैलाव के साथ देशवासी बन जाते हैं, वे एक राष्ट्र के अंग होते हैं। अतः वे भिन्न-भिन्न समुदाय न होकर एक राष्ट्र के नागरिक होते हैं। चूंकि हिन्दू और मुसलमान दोनो ने पारस्परिक सम्बन्धता की इस स्थिति को समझने की कोशिश नहीं की और इसे साम्प्रदायिकता का रूप दे डाला। "हिन्दू अपनी मां की रक्षा करने में असमर्थ रहा और उसने अपनी दुर्बलता पर आये अपने क्रोध को अपने सौतेले भाई पर लादने का आसान रास्ता खोज निकाला। फिर कालान्तर में यही सौतेला भाई देशवासी बन जाता है और भविष्य में इसी रोग का शिकार बनता है। वह मानसिक रूप से इतना अधम हो जाता है कि वह अपनी दुर्बलता को पराक्रम समझने की गल्ती कर बैठता है।"[2] जब पारस्परिक सम्बन्धता की वास्तविक स्थिति को समझ न पाये तो इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों समुदायों में एक दूसरे के प्रति मिथ्या धारणा को बढ़ावा दिया। झूठी आत्मतुष्टी के कारण ही भारत के मुसलमान अपनी उत्पत्ति गजनी और गोरी जैसे लुटेरों से समझते हैं। वे इसे अनुभव नहीं कर पाये कि गजनी तथा गोरी स्वयं अपनी आजादी और राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहे। भारत के मुसलमानों ने प्रत्येक परदेशी शासन को, विदेशी शासन न मानकर मुसलमान का शासन माना। अतः आज मुसलमान हिन्दुओ पर लम्बे काल तक निर्बाध शासन करने की उच्च भावना से पीड़ित हैं, जबकि दूसरी तरफ हिन्दू सोचता है कि मुसलमान ने उस पर शासन किया। अत्याचार किया तथा उनकी संस्कृति को विनिष्ट कर दिया गया, हिन्दुओं और मुसलमानो के इन विद्वेषपूर्ण मनोभावों की विवेचना करते हुए लोहिया ने लिखा है: "आमतौर से जो भ्रम हिन्दू और मुसलमान दोनो के मन मे हैं, वह यह कि हिन्दू सोचता है कि पिछले 700-800 वर्ष तक मुसलमानो का राज्य रहा, मुसलमानों ने जुल्म किया और अत्याचार किया और मुसलमान सोचता है, चाहे वह गरीब से गरीब क्यों न हो, 700-800 वर्ष तक हमारा राज्य था, अब हमको बुरे दिन देखने पड़ रहे हैं।"[3]

---

1. लोहिया: भारत विभाजन के गुनाहगार, (अनूदित) इलाहाबाद: लोकभारती, 1978, पृ. 15.
2. वही, पृ. 15-16.
3. लोहिया: हिन्दू और मुसलमान, हैदराबाद: नवहिन्द, 1963, पृ. 2

लोहिया के अनुसार हिन्दू-मुसलमान में यह जो पृथकता और अलगाव की भावना रही, उसका कारण यह रहा कि दोनों समुदायों ने एक ही इतिहास के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाये। "शायद आज या भारत का विभाजन हुआ था तब, हिन्दू-मुस्लिम जैसी कोई समस्या न होती, यदि हिन्दू और मुसलमान एक साथ इतिहास की एक जैसी व्याख्या करने में समर्थ होते और शान्ति से रहना सीखे होते।.........एक ही इतिहास के प्रति हिन्दू और मुसलमान के दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं, अतीत में भी, आज भी और उनके स्वरूप तथा चरित्र में पृथकता का यही मुख्य कारण रहा है।"[1] लोहिया ने माना कि यह स्थिति पैदा करने मे हमारे यहां के इतिहासकार भी बहुत बड़े दोषी हैं। इतिहासकारो ने इतिहास को इतने गलत तथा खराब ढंग से प्रस्तुत किया है कि उसने हिन्दू और मुसलमानों में द्वेष और घृणा का भाव भर दिया है। इस गलत इतिहास ने भारतीय मन पर "हिन्दू बनाम मुसलमान" की दुःखद छाया डाली है। चूंकि इतिहास लेखन स्वय इतिहास का निर्माण करता है, अतः अगर इतिहास लेखन में तथ्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत किया गया तो स्वाभाविक रूप से भविष्य में उनका नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। "इतिहास है क्या ?— इतिहास है अतीत का बोध और अतीत का बोध भविष्य और वर्तमान का निर्माता। अगर गलत समझते हैं तो गलत ढंग से वर्तमान और भविष्य बनता है।"[2]

हमारे यहां प्रत्येक इतिहासकार का इतिहास लेखन के पीछे एक उद्देश्य रहा है। अतः उसने उन्हीं घटनाओं को चुना जो उनके इस उद्देश्य में सहायक रही तथा स्रोत सामग्री के निरपेक्ष विश्लेषण की अपेक्षा उन्हें तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया। चूंकि इन इतिहासकारों का उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थ रहा, अतः भावानात्मक एकीकरण तथा साम्प्रदायिक सौहार्द्र की भावना गौण रही। दुर्भाग्य से प्राचीन भारत मे इतिहास लेखन बहुत कम रहा तथा कुछ रहा भी तो वह या तो काव्यात्मक रूप में रहा या दार्शनिक रूप मे। हमारे यहां इतिहास लेखन का व्यवस्थात्मक प्रयास पिछले थोड़े समय से रहा, जिसकी शुरुआत अन्तर्राष्ट्रीय इतिहासकारो ने की। फरिश्ता से लेकर विंसेन्ट स्मिथ तक इन सभी का उद्देश्य भारत पर विदेशी शासन को सुरक्षित बनाना था। अतः उन्होने इन दोनों समुदायो के कुछ सम्बन्धों को लेकर ऐतिहासिक अतीत

---

1. लोहिया : भारत विभाजन के गुनाहगार, (अनूदित) इलाहाबाद : लोकभारती, 1978 पृ. 14.
2. लोकसभा डिबेट्स, भाग 54 (26 अप्रैल 1966), पृ. 13210.

की घटनाओं के सहारे बौद्धिक स्तर पर इनमें पृथकता तथा विभिन्नता के औचित्य को सिद्ध करते रहे। जहां तक हमारे यहां के इतिहासकारों द्वारा इतिहास-लेखन का प्रश्न है, तीनों स्कूल-ताराचन्द स्कूल, मजूमदार स्कूल तथा अलीगढ़-स्कूल—साम्प्रदायिक सौहार्द पैदा करने में असफल रहे। प्रथम दो स्कूलों—ताराचन्द तथा मजूमदार स्कूल—में एक दूसरे पर वैचारिक संघर्ष दिखायी देता है, किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो दोनों सारवस्तु में समान हैं। "वे अन्तर्राष्ट्रीय खिलाड़ियों के देशी परजीवी हैं। दोनों गलत मान्यता को स्वीकार करते हैं। वे केवल इस पर विभाजित हैं कि कौनसी गलती को अस्वीकार किया जाये। दोनों उत्तर-ब्रिटिश असत्य को बनाये रखना चाहते हैं।"[1] अलीगढ़ स्कूल वालों की खोज मुस्लिम आक्रमणों को औचित्यपूर्ण ठहराना रहा। इस हेतु उन्होंने देशी और परदेशी मुसलमानों में कोई अन्तर करके नहीं देखा। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे यहां के इतिहासकारों का उद्देश्य निजी सकीर्ण स्वार्थपूर्ति रहा और इसी संदर्भ में इतिहास को रचा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों समुदायों में आपसी एकीकरण की भावना को बढ़ावा न मिलकर अलगाव पैदा होने की प्रक्रिया शुरू हुयी।

हिन्दू-मुस्लिम अलगाव तथा पृथक्करण की इस भावना को भारतीय राजनीतिक दलों ने और भी विकृत कर दिया है। राजनीतिक दलों द्वारा दोनों समुदायों को एक दूसरे के निकट लाने की अपेक्षा वोट प्राप्ति के लिए उनका अलग-अलग आह्वान किया गया। लोहिया ने लिखा है, "हिन्दुस्तान में जितनी भी पार्टियां हैं, वे हिन्दू मुसलमान् को बदलने की बात बिल्कुल नहीं करती। मन में जो पुराना कूड़ा पड़ा हुआ है, जो गलतफहमी है, जो भ्रम है, उन्हीं को तसल्ली दे-दिलाकर वोट ले लेना चाहते हैं। यह तो आज हमारे राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी खराबी है कि हम लोग वोट के राज में, नेता लोग खासतौर से सच्ची बात कहने से घबरा जाते हैं। इसका नतीजा है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का मन खराब हो जाता है, बदल नहीं पाता।"[2] हमारे यहां की तथाकथित धर्म-निरपेक्ष पार्टियां भी वोट प्राप्ति की चाह हेतु प्रतिक्रियावादी शक्तियों से समझौता कर लेती हैं। केरल इस बात का उदाहरण है कि हमेशा किसी न किसी राष्ट्रवादी तथा लोक-तान्त्रिक दल ने मुस्लिम लीग से गठबन्धन किया है।

---

1. लोहिया : नोट एण्ड कोमेंट्स, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2 पृ. 100.
2. लोहिया : हिन्दू और मुसलमान, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 8.

की घटनाओं के सहारे बौद्धिक स्तर पर इनमें पृथकता तथा विभिन्नता के औचित्य को सिद्ध करते रहे। जहां तक हमारे यहां के इतिहासकारों द्वारा इतिहास-लेखन का प्रश्न है, तीनों स्कूल-ताराचन्द स्कूल, मजूमदार स्कूल तथा अलीगढ़-स्कूल—साम्प्रदायिक सौहार्द्र पैदा करने में असफल रहे। प्रथम दो स्कूलों—ताराचन्द तथा मजूमदार स्कूल—में एक दूसरे पर वैचारिक संघर्ष दिखायी देता है, किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो दोनो सारवस्तु में समान हैं। "वे अन्तर्राष्ट्रीय खिलाड़ियों के देशी परजीवी हैं। दोनों गलत मान्यता को स्वीकार करते हैं। वे केवल इस पर विभाजित हैं कि कौनसी गलती को अस्वीकार किया जाये। दोनों उत्तर-ब्रिटिश असत्य को बनाये रखना चाहते हैं।"[1] अलीगढ़ स्कूल वालों की खोज मुस्लिम आक्रमणों को औचित्यपूर्ण ठहराना रहा। इस हेतु उन्होंने देशी और परदेशी मुसलमानों में कोई अन्तर करके नहीं देखा। इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे यहां के इतिहासकारों का उद्देश्य निजी संकीर्ण स्वार्थपूर्ति रहा और इसी संदर्भ में इतिहास को रचा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों समुदायों में आपसी एकीकरण की भावना को बढ़ावा न मिलकर अलगाव पैदा होने की प्रक्रिया शुरू हुयी।

हिन्दू-मुस्लिम अलगाव तथा पृथक्करण की इस भावना को भारतीय राजनीतिक दलों ने और भी विकृत कर दिया है। राजनीतिक दलों द्वारा दोनों समुदायों को एक दूसरे के निकट लाने की अपेक्षा वोट प्राप्ति के लिए उनका अलग-अलग आह्वान किया गया। लोहिया ने लिखा है, "हिन्दुस्तान में जितनी भी पार्टियां हैं, वे हिन्दू मुसलमान को बदलने की बात बिल्कुल नहीं करती। मन में जो पुराना कूड़ा पड़ा हुआ है, जो गलतफहमी है, जो भ्रम है, उन्हीं को तसल्ली दे-दिलाकर वोट ले लेना चाहते हैं। यह तो आज हमारे राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी खराबी है कि हम लोग वोट के राज में, नेता लोग खासतौर से सच्ची बात कहने से घबरा जाते हैं। इसका नतीजा है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का मन खराब हो जाता है, बदल नहीं पाता।"[2] हमारे यहां की तथाकथित धर्म-निरपेक्ष पार्टियां भी वोट प्राप्ति की चाह हेतु प्रतिक्रियावादी शक्तियों से समझौता कर लेती हैं। केरल इस बात का उदाहरण है कि हमेशा किसी न किसी राष्ट्रवादी तथा लोकतान्त्रिक दल ने मुस्लिम लीग से गठबन्धन किया है।

---

1. लोहिया : नोट एण्ड कोमैंट्स, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1977, वो. 2 पृ. 100.
2. लोहिया : हिन्दू और मुसलमान, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963, पृ. 8.

परदेशी के सम्बन्ध की अनभिज्ञता—की जो विवेचना की है, वह महत्वपूर्ण है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि चिन्तन का निजी पर्यावरण आधार होने के कारण लोहिया की समाजवादी धारणा में उपराष्ट्रवादी आस्थाओं के के समाधान के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया। लोहिया का यह मानना पूर्णत: सही है कि हमारे यहां उपराष्ट्रवादी आस्थाओं को शासन सत्ता में बने रहने हेतु समाज के उच्च वर्ग द्वारा कृत्रिम रूप से पैदा किया जाता है। अत: हमें वर्तमान व्यवस्था की अपेक्षा समाजवादी व्यवस्था को अपनाना चाहिए, ताकि सम्पूर्ण समाज—राष्ट्र—की आत्मपूर्णता प्राप्त हो सके। चूंकि समाजवादी व्यवस्था वह आधार प्रस्तुत करती है, जिसमें लघु किन्तु पूर्ण इकाई के रूप मे व्यक्ति तथा वर्ग को, साथ ही वृहद् इकाई के रूप में राष्ट्र तथा अन्तत: सम्पूर्ण मानव जाति को पूर्णता की प्राप्ति होती है। अत: समाजवादी व्यवस्था से एक तरफ राष्ट्र निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है तो दूसरी तरफ विश्व मानव समुदाय की एकता का आदर्श भी पूरा होता है। साथ ही समाजवादी व्यवस्था सुधार की समग्रतायुक्त व्यवस्था है; जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सुधारों की एक साथ आकांक्षा की जाती है। अर्थात् सामाजिक जीवन के इन विभिन्न अंगों को अलग-अलग न लेकर इन सभी में एक साथ सुधार का प्रयास किया जाता है। जब समाज सभी दृष्टियों से पूर्णता प्राप्त होगा तो किसी भी प्रकार की उपराष्ट्रवादी प्रवृत्ति के जन्म का आधार ही खत्म हो जाता है। फलत: हम अपने आदर्श की ओर सरलता से बढ़ सकते हैं।

———

दूर रह सकेंगे। "इतिहास के वास्तविक अध्ययन से सांगा एक बहुत छोटे और मंदबुद्धि दरबारियों के नायक के रूप में दिखेगा, जिनके कमजोर हाथो में देश की स्वतन्त्रता का भार था और प्रताप ने बुझते अगारों से आजादी की मशाल जलाने का प्रयत्न किया था। मानसिंह और अकबर ऐसे क्षेत्र के थे, जहां आजादी और गुलामी का मिलन होता है, जहां एक आक्रामक देशवासी बनने का प्रयत्न करता है और जिसकी धूर्तता को महानता कहा जाता है।"[1]

तृतीय, भाषा के प्रति उदार नीति अपनायी जाये। एक समुदाय दूसरे समुदाय की भाषा के प्रति आक्रामक रुख अपनाता है, जिससे तनाव पैदा होता है। अतः किसी भी सम्प्रदाय को अपनी भाषा के प्रति पूर्वाग्रहता की स्थिति मे नहीं रहना चाहिए, जिससे कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिले। दोनों सम्प्रदायों को एक समान राष्ट्रभाषा के प्रति उदार रुख अपनाना चाहिए।

अन्तिम, राजनीतिक दलों को मत प्राप्ति के संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर एक राष्ट्र के नागरिक के रूप में सभी का एक साथ आह्वान करना चाहिये। लोहिया के अनुसार बाह्य रूप से ये साधन हो सकते हैं, जो कि हिन्दू-मुसलमान दोनों के मानसिक परिवर्तन को बढ़ावा देने में सहायक होगे। अतः इनके लिए हमे निरन्तर प्रयास करना चाहिये, ताकि किसी एक वर्ग की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज को एक साथ आगे बढ़ा सकें।

नरेन्द्र देव[2] तथा जयप्रकाश नारायण[3] ने माना है कि धर्म को हम राष्ट्र का आधार नहीं मान सकते। एक प्रान्त में बसने वाले सभी धर्मों के अनुयायियों की एक सी भाषा तथा रहन-सहन का तरीका रहा है। अतः हिन्दू तथा मुसलमान को अलग-अलग राष्ट्र के रूप मे स्वीकार करना गलत होगा। किन्तु नरेन्द्र देव तथा जयप्रकाश दोनों ने ही वर्तमान में हिन्दू-मुसलमान के टकराव की जड़ मे क्या प्रेरक तत्व रहे, का विवेचन नही किया तथा वर्तमान स्थिति में दोनों समुदायो के जो सम्बन्ध हैं, उन्ही के आधार पर निष्कर्ष निकालने की कोशिश की। इस संदर्भ मे लोहिया द्वारा हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के इतिहास में जाकर इन समुदायों को अलग-अलग करने वाले कारकों—देशी-

1. लोहिया : भारत विभाजन के गुनाहगार, (अनूदित) इलाहाबाद : लोकभारती, 1978, पृ. 16.
2. देव, नरेन्द्र : राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, सं. 2006, पृ. 151.
3. संघर्ष, वर्ष 8, अंक-22, 17 अप्रैल, 1950, पृ. 11.

निष्कर्ष

सम्पूर्ण अध्ययन के अन्तर्गत तीन पक्ष विशेष रूप से उभरकर आये हैं, जिनका हम यहां उल्लेख कर सकते हैं। ये हैं : चिन्तन का भारतीय स्वरूपण, सिद्धान्त निर्माण का प्रयास तथा चिन्तन सातत्यता। लोहिया का प्रारम्भ से ही यह आग्रह रहा कि चिन्तन की आधार रेखायें तय करते समय स्थानीय स्थिति तथा पर्यावरण को पूर्णतः ध्यान में रखा जाये। स्थानीय वातावरण की अवहेलना करके तय किया गया चिन्तन प्रारूप एक तरफ वहां की जनता की जीवन-पद्धति का अंग नहीं बन सकता तथा दूसरी तरफ उसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगा रहता है। प्रत्येक समाज का अपना पृथक् इतिहास, पृथक् परम्परायें, पृथक् सामाजिक-आर्थिक मूल्य तथा मान्यतायें होती हैं। अतः चिन्तन का कोई भी आधार इन्हीं के संदर्भ में तय किया जाना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से लोहिया द्वारा समाजवादी चिन्तन के भारतीय स्वरूपण का आग्रह महत्वपूर्ण है।

भारत में समाजवादी चिन्तन, अन्य विचारधाराओं–उदारवाद तथा मार्क्सवाद–की उपशाखा बन कर रह गया था। अतः एक कृत्रिम आधार तैयार किया जा रहा था। उस समय लोहिया ने चेतावनी दी कि अगर वैचारिक-अनुकरण की यही प्रक्रिया चलती रही तो हम चिन्तन तथा आन्दोलन दोनों ही दृष्टियों से कोई विशेष योगदान नहीं दे सकते। उदारवाद तथा मार्क्सवाद दोनों के मूल आधारों की तार्किक समीक्षा करने पर ये व्यवस्थायें तृतीय विश्व तथा विशेषकर भारत के संदर्भ में निरर्थक सिद्ध होती हैं। अतः इन व्यवस्थाओं के मूल्य हमारे लिए आदर्श सिद्ध नहीं हो सकते। फलतः हमें विकल्प निर्धारण मे भारतीय परिस्थितियों, वातावरण तथा सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों को ध्यान में रखना चाहिए। लोहिया ने भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रित राज [illegible] चौखम्भा योजना, सामाजिक दृष्टि से विशेष संरक्षण सिद्धान्त

त्रिलोचन

निष्कर्ष

सम्पूर्ण अध्ययन के अन्तर्गत तीन पक्ष विशेष रूप से उभरकर आये हैं, जिनका हम यहां उल्लेख कर सकते हैं। ये हैं : चिन्तन का भारतीय स्वरूपण, सिद्धान्त निर्माण का प्रयास तथा चिन्तन सातत्यता। लोहिया का प्रारम्भ से ही यह आग्रह रहा कि चिन्तन की आधार रेखायें तय करते समय स्थानीय स्थिति तथा पर्यावरण को पूर्णतः ध्यान में रखा जाये। स्थानीय वातावरण की अवहेलना करके तय किया गया चिन्तन प्रारूप एक तरफ वहां की जनता की जीवन-पद्धति का अंग नहीं बन सकता तथा दूसरी तरफ उसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगा रहता है। प्रत्येक समाज का अपना पृथक् इतिहास, पृथक् परम्परायें, पृथक् सामाजिक-आर्थिक मूल्य तथा मान्यतायें होती हैं। अतः चिन्तन का कोई भी आधार इन्हीं के संदर्भ में तय किया जाना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से लोहिया द्वारा समाजवादी चिन्तन के भारतीय स्वरूपण का आग्रह महत्वपूर्ण है।

भारत में समाजवादी चिन्तन, अन्य विचारधाराओं–उदारवाद तथा मार्क्सवाद–की उपशाखा बन कर रह गया था। अतः एक कृत्रिम आधार तैयार किया जा रहा था। उस समय लोहिया ने चेतावनी दी कि अगर वैचारिक-अनुकरण की यही प्रक्रिया चलती रही तो हम चिन्तन तथा आन्दोलन दोनों ही दृष्टियों से कोई विशेष योगदान नहीं दे सकते। उदारवाद तथा मार्क्सवाद दोनों के मूल आधारों की तार्किक समीक्षा करने पर ये व्यवस्थायें तृतीय विश्व तथा विशेषकर भारत के संदर्भ में निरर्थक सिद्ध होती हैं। अतः इन व्यवस्थाओं मूल्य हमारे लिए आदर्श सिद्ध नहीं हो सकते। फलतः हमें विकल्प निर्धारण भारतीय परिस्थितियों, वातावरण तथा सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक [illegible] को ध्यान में रखना चाहिए। लोहिया ने भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रित राज-व्यवस्था अर्थात् चौखम्भा योजना, सामाजिक दृष्टि से विशेष संरक्षण सिद्धान्त–साठ प्रतिशत

आरक्षण–, सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह, आर्थिक दृष्टि से छोटी मशीनी योजना, श्रमिक-उपभोक्ता प्रतिनिधित्वयुक्त लोकक्षेत्र, कृषि के क्षेत्र मे भू-सेना का निर्माण, लगान माफी, कृषि उपज मूल्यो तथा औद्योगिक उत्पादित मूल्यों मे सामंजस्यता और जमीन का बंटवारा, आय तथा व्यय की सीमारेखा, भाषा की दृष्टि से हिन्दी को केन्द्र की भाषा मानते हुए क्षेत्रीय भाषाओं को लागू करना आदि विकल्प प्रस्तुत किये हैं। लोहिया ने इन सभी विकल्पों के निर्धारण मे समय सदर्भ और भारतीय परिवेश को ध्यान मे रखा है। फलतः प्रत्येक विकल्प महत्ता की दृष्टि से अपनी उपयोगिता लिये हुये है तथा अपनी भूमिका मे उल्लेखनीय योगदान दे सकता है। साथ ही, जब चिन्तन निर्धारण मे स्थानीय पर्यावरण प्रमुख होगा, तो स्वाभाविक है वह अपना निजी स्वरूप बनाये रखेगा तथा प्रत्येक देश का अपना भिन्न चिन्तन प्रारूप होगा। यही चिन्तन का निजी तथा भिन्न स्वरूप बनाये रखने की लोहिया की प्रमुख आकांक्षा थी।

लोहिया का भारतीय परिवेश का आग्रह, उन्हें सुधार पद्धति की समग्रता की ओर अग्रसर करता है, जो चिन्तन की महत्ता तथा प्रभावशालीता की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अगर चिन्तन का आधार बाह्य विचारधारा—चाहे वह उदारवाद हो या मार्क्सवाद—पर होगा तो स्वाभाविक है कि वह एक पक्षीय होगा। उस समय बाह्य समाज के मूल्य, विचारक के चिन्तन पर हावी हो जाते हैं तथा प्रत्येक विकल्प प्रचलित मूल्यो तथा परिस्थितियों के संदर्भ मे न होकर, किसी बाह्य प्रतिमान के अन्धानुकरण का फल होता है। इसके फलस्वरूप उभरा हुआ प्रतिमान एकांगी होता है। इस संदर्भ में, अगर लोहिया अन्य भारतीय समाजवादियों की भांति भारतीय पर्यावरण की अस्वीकृति पर चिन्तन का सृजन करते तो उनके चिन्तन मे सुधार का समग्रतायुक्त दृष्टिकोण आ पाना संभव नही था। भारतीय परिवेश ही उन्हें किसी एकांगी निर्णय से दूर ले जाता रहा। यहां की परिस्थितियों की मांग थी कि सामाजिक रूपान्तरण की किसी भी योजना में सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि पक्षों को टुकड़ो मे न लेकर, सभी को एक साथ लिया जाये। अतः लोहिया की यह स्वीकृति महत्वपूर्ण है कि जब तक सुधार पद्धति में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि सभी पक्षों को सम्मिलित रूप में नही लिया गया तो एक पक्षीय कमियां, दूसरे पक्ष को भी ग्रसित कर देती हैं। चूंकि एक पक्ष दूसरे पक्ष से निकटता से जुड़ा होता है। अतः सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के रूपान्तरण के लिए आवश्यक है कि सभी अंगों का समग्रता में मूल्यांकन किया जाये।

निष्कर्ष

सम्पूर्ण अध्ययन के अन्तर्गत तीन पक्ष विशेष रूप से उभरकर आये हैं, जिनका हम यहां उल्लेख कर सकते हैं। ये हैं : चिन्तन का भारतीय स्वरूपण, सिद्धान्त निर्माण का प्रयास तथा चिन्तन सातत्यता। लोहिया का प्रारम्भ से ही यह आग्रह रहा कि चिन्तन की आधार रेखायें तय करते समय स्थानीय स्थिति तथा पर्यावरण को पूर्णतः ध्यान में रखा जाये। स्थानीय वातावरण की अवहेलना करके तय किया गया चिन्तन प्रारूप एक तरफ वहां की जनता की जीवन-पद्धति का अंग नहीं बन सकता तथा दूसरी तरफ उसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगा रहता है। प्रत्येक समाज का अपना पृथक् इतिहास, पृथक् परम्परायें, पृथक् सामाजिक-आर्थिक मूल्य तथा मान्यतायें होती हैं। अतः चिन्तन का कोई भी आधार इन्हीं के संदर्भ में तय किया जाना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से लोहिया द्वारा समाजवादी चिन्तन के भारतीय स्वरूपण का आग्रह महत्वपूर्ण है।

भारत में समाजवादी चिन्तन, अन्य विचारधाराओं-उदारवाद तथा मार्क्सवाद-की उपशाखा बन कर रह गया था। अतः एक कृत्रिम आधार तैयार किया जा रहा था। उस समय लोहिया ने चेतावनी दी कि अगर वैचारिक-अनुकरण की यही प्रक्रिया चलती रही तो हम चिन्तन तथा आन्दोलन दोनों ही दृष्टियों से कोई विशेष योगदान नहीं दे सकते। उदारवाद तथा मार्क्सवाद दोनों के मूल आधारों की तार्किक समीक्षा करने पर ये व्यवस्थायें तृतीय विश्व तथा विशेषकर भारत के संदर्भ में निरर्थक सिद्ध होती हैं। अतः इन व्यवस्थाओं के मूल्य हमारे लिए आदर्श सिद्ध नहीं हो सकते। फलतः हमें विकल्प निर्धारण में भारतीय परिस्थितियों, वातावरण तथा सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों को ध्यान मे रखना चाहिए। लोहिया ने भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रित राज-व्यवस्था अर्थात् चौखम्भा योजना, सामाजिक दृष्टि से विशेष संरक्षण सिद्धान्त-साठ प्रतिशत

आरक्षण–, सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह, आर्थिक दृष्टि से छोटी मशीनी योजना, श्रमिक-उपभोक्ता प्रतिनिधित्वयुक्त लोकक्षेत्र, कृषि के क्षेत्र में भू-सेना का निर्माण, लगान माफी, कृषि उपज मूल्यो तथा औद्योगिक उत्पादित मूल्यों मे सामंजस्यता और जमीन का बंटवारा, आय तथा व्यय की सीमारेखा, भाषा की दृष्टि से हिन्दी को केन्द्र की भाषा मानते हुए क्षेत्रीय भाषाओं को लागू करना आदि विकल्प प्रस्तुत किये हैं। लोहिया ने इन सभी विकल्पों के निर्धारण मे समय सदर्भ और भारतीय परिवेश को ध्यान में रखा है। फलतः प्रत्येक विकल्प महत्ता की दृष्टि से अपनी उपयोगिता लिये हुये है तथा अपनी भूमिका में उल्लेखनीय योगदान दे सकता है। साथ ही, जब चिन्तन निर्धारण मे स्थानीय पर्यावरण प्रमुख होगा, तो स्वाभाविक है वह अपना निजी स्वरूप बनाये रखेगा तथा प्रत्येक देश का अपना भिन्न चिन्तन प्रारूप होगा। यही चिन्तन का निजी तथा भिन्न स्वरूप बनाये रखने की लोहिया की प्रमुख आकांक्षा थी।

लोहिया का भारतीय परिवेश का आग्रह, उन्हें सुधार पद्धति की समग्रता की ओर अग्रसर करता है, जो चिन्तन की महत्ता तथा प्रभावशालीता की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अगर चिन्तन का आधार बाह्य विचारधारा—चाहे वह उदारवाद हो या मार्क्सवाद—पर होगा तो स्वाभाविक है कि वह एक पक्षीय होगा। उस समय बाह्य समाज के मूल्य, विचारक के चिन्तन पर हावी हो जाते हैं तथा प्रत्येक विकल्प प्रचलित मूल्यो तथा परिस्थितियो के संदर्भ में न होकर, किसी बाह्य प्रतिमान के अन्धानुकरण का फल होता है। इसके फलस्वरूप उभरा हुआ प्रतिमान एकागी होता है। इस संदर्भ मे, अगर लोहिया अन्य भारतीय समाजवादियों की भाति भारतीय पर्यावरण की अस्वीकृति पर चिन्तन का सृजन करते तो उनके चिन्तन मे सुधार का समग्रतायुक्त दृष्टिकोण आ पाना संभव नही था। भारतीय परिवेश ही उन्हें किसी एकांगी निर्णय से दूर ले जाता रहा। यहां की परिस्थितियों की मांग थी कि सामाजिक रूपान्तरण की किसी भी योजना मे सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि पक्षों को टुकड़ों में न लेकर, सभी को एक साथ लिया जाये। अतः लोहिया की यह स्वीकृति महत्वपूर्ण है कि जब तक सुधार पद्धति में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि सभी पक्षों को सम्मिलित रूप मे नही लिया गया तो एक पक्षीय कमियां, दूसरे पक्ष को भी ग्रसित कर देती हैं। चूंकि एक पक्ष दूसरे पक्ष से निकटता से जुड़ा होता है। अतः सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के रूपान्तरण के लिए आवश्यक है कि सभी अंगों का समग्रता में मूल्याकन किया जाये।

अब हम सिद्धान्त निर्माण के प्रयास पर आते हैं। सिद्धान्त से तात्पर्य विचारों या कथनों की ऐसी व्यवस्थात्मक योजना से है, जिसके द्वारा किन्हीं सामान्य नियमों का निर्धारण किया जाता है। लोहिया का प्रयास एक ऐसे समाजवादी सिद्धान्त का निर्माण करना रहा, जिसमे व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा अन्ततः समस्त मानव जाति की पूर्णता सम्भव हो सके। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि वृहद् पूर्णता की तरफ बढ़ती हुयी शृंखला को कड़ियाँ हैं, जिनमें किसी भी स्तर पर कोई द्वन्द्व नहीं है। एक कड़ी की पूर्णता दूसरी कड़ी की पूर्णता बनाये रखने मे सक्षम है। लोहिया का यह उद्देश्य उन्हें उदारवाद तथा मार्क्सवाद दोनों विचारधाराओं से परे तो ले ही जाता है, साथ ही उनकी "निजी" तथा "मौलिक" सिद्धान्त निर्माण की आकांक्षा को भी पूरा करता है। सामाजिक गौणता पर व्यक्ति की प्रमुखता, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा की स्वतन्त्रता-फलतः समानता की अस्वीकृति तथा राजनीतिक केन्द्रीकरण आदि उदारवादी व्यवस्था की प्रमुख कमियां हैं। किन्तु हमारे लिए मार्क्सवाद भी विकल्प नही हो सकता। मार्क्सवादी व्यवस्था मे एक सर्वाधिकारवादी तथा तानाशाही व्यवस्था खड़ी की जाती है, जिसमें व्यक्ति को पूर्णतः कुचल दिया जाता है तथा किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता को कोई स्थान नहीं मिल पाता है। उदारवादी स्वतन्त्रता की उपलब्धि के आधार पर तथा मार्क्सवादी आर्थिक पूर्णता-"रोटी"-की प्राप्ति के आधार पर अपनी-अपनी व्यवस्था की उपयोगिता सिद्ध करते हैं, किन्तु दोनों ही वैचारिक व्यवस्थाओं में स्वतन्त्रता तथा रोटी मे द्वन्द्व की स्थिति पायी जाती है। अर्थात् दोनो के सह-अस्तित्व की कोई स्वीकृति नही होती। दूसरी तरफ लोहिया ने अपने सिद्धान्त के अनुरूप सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक मूल्यों को भी विकसित किया है। जहां तक व्यक्ति और समाज की पारस्परिकता का प्रश्न है, जैसा कि अभी कहा गया है, लोहिया ने दोनो के प्रति अन्योन्याश्रिता का दृष्टिकोण अपनाया है। लोहिया का व्यक्ति पूर्ण है, किन्तु वह समाज से पृथक् नहीं है। अतः समाज की निर्देशन रेखायें व्यक्ति पर भी लागू होती हैं। किन्तु साथ ही लोहिया ने ऐसी सरचना प्रस्तुत की है, जिसमें समाज का कभी सर्वाधिकारवादी स्वरूप नहीं हो सकता है। अतः उनके द्वारा विकल्पित व्यक्ति की पूर्णता बनी रहती है। इस प्रकार एक तरफ व्यक्ति तथा दूसरी तरफ समाज की पूर्णता का उचित सामंजस्य किया गया है। जहां राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों के संदर्भ में लोहिया ने चौखम्भा राज्य-व्यवस्था में एक तरफ लघु इकाई के रूप में व्यक्ति तथा वृहद् इकाई के रूप मे समस्त राष्ट्रों (पांचवें खम्भे के रूप मे विश्व-सरकार) की पूर्णता का प्रयास किया।

विकेन्द्रीकरण की योजना के प्रत्येक स्तर को इस तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है कि किसी भी रूप में कोई अस्पष्टता उभर कर नहीं आ सकती। प्रत्येक क्षेत्र की शक्ति व्यापक रूप से उल्लिखित कर दी गयी है, किन्तु साथ ही इस पूर्णता को बनाये रखने हेतु लोहिया ने राज्य-सत्ता पर कई संस्थात्मक तथा व्यावहारिक प्रतिबन्ध भी लगाये हैं। लोहिया ने अपनी समाजवादी व्यवस्था में समानता तथा स्वतन्त्रता के सह-अस्तित्व पर जोर दिया। समानता स्वतन्त्रता का आधार तैयार करती है। विभिन्न प्रकार की असमानताओं से ग्रसित समाज में स्वतन्त्रता का न कोई अर्थ होता है और न उसके वांछित परिणाम सामने आते हैं। अतः स्वतन्त्रता की सार्थकता हेतु समानता पूर्व शर्त के रूप मे होनी चाहिए। जबकि दूसरी तरफ स्वतन्त्रता व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के उन्मुक्त विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। लोहिया का प्रयास अन्ततः सम्पूर्ण समानता हासिल करना रहा। किन्तु तात्कालिक परिस्थितियो में सम्पूर्ण समानता की प्राप्ति कठिन होने के कारण उन्होंने सम्पूर्ण समानता के संभव रूपों की विवेचना की है। समानता के संभव रूपों के निर्धारण मे हम फिर लोहिया के चिन्तन के भारतीय स्वरूपण की झलक देख सकते है। यहां के समाज मे तात्कालिक रूप से जो समानता सम्भव हो सकती थी, लोहिया ने उसे अपनाये जाने पर जोर दिया। जहा तक स्वतन्त्रता की धारणा का प्रश्न है, लोहिया ने अपने सिद्धान्त निरूपण के आदर्श के अनुसार व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को वे सभी प्रकार की स्वतन्त्रतायें प्रदान की हैं, जिनके द्वारा उनकी आत्मपूर्णता को पूरा-पूरा अवसर मिल सके। विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओ के सदर्भ में अगर लोहिया द्वारा कुछ प्रतिबन्ध भी लागू किये तो वे उनके सिद्धान्त निर्माण के प्रयास में सकारात्मक निहितार्थों के रूप में सामने आये हैं। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के पारस्परिकता का सिद्धान्त, राजनीतिक व्यवस्था, समानता तथा स्वतन्त्रता के दार्शनिक मूल्यों में लोहिया ने अपनी सामाजिक पूर्णता के सिद्धान्त को उभारने की कोशिश की है।

चिन्तन सातत्यता लोहिया के दर्शन का एक अन्य उल्लेखनीय योगदान है। चिन्तन सातत्यता के मुख्यतः दो आयाम होते हैं: प्रथम, ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन सातत्यता तथा द्वितीय, वैचारिक आधार पर सातत्यता। चूंकि अध्ययन का आग्रह ऐतिहासिक न होने के कारण, हमारे विवेचन तथा विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु वैचारिक सातत्यता ही है। वैचारिक सातत्यता से यहां पर तात्पर्य यह है कि लोहिया ने सिद्धान्त निर्माण के प्रयास में व्यवस्था के जो दार्शनिक मूल्य प्रस्थापित किये, उनमे तथा उस व्यवस्था को प्राप्त करने हेतु सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण की जो योजना बनायी उसमें क्या निरन्तर

सामंजस्य बना रहा है। उल्लेखनीय है कि लोहिया ने ऐसा व्यवस्थात्मक चिन्तन प्रस्तुत किया है, जिसमें वैचारिक आधार पर पूर्ण सातत्यता पायी जाती है। यह इस तथ्य से भी स्वतः सिद्ध होता है कि लोहिया ने स्वयं स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि किसी भी दार्शनिक व्यवस्था का उस समय तक कोई महत्व नहीं है, जब तक उनके अनुरूप सामाजिक-आर्थिक मूल्य संरचना का विकास न किया जाये। लोहिया ने व्यक्ति तथा समाज की जो पूर्णता का आदर्श रखा, उसे राजनीतिक संरचना तथा स्वतन्त्रता-समानता के मूल्यों में तो बनाये रखा ही, साथ ही, व्यावहारिक गतिविधियों के क्षेत्र में भी इनमें किसी प्रकार के विरोधाभास को कोई जगह नहीं मिलती है। जाति-प्रथा, नारी समस्या, उत्पादन पद्धति, वितरण योजना, उपराष्ट्रवाद की समस्या—भाषा, क्षेत्र, धर्म आदि—में चिन्तन का मुख्य आग्रह उसी आदर्श को बनाये रखना था। अतः वैचारिक आधार पर लोहिया के चिन्तन में पूर्ण सातत्यता देखते हैं।

कांग्रेस की आलोचना, भाषा, नीति के प्रति अपनाया गया दृष्टिकोण, विशेष आरक्षण की व्यवस्था आदि लोहिया पर आरोप के मुद्दे रहे हैं। किन्तु इस संदर्भ मे हम कह सकते हैं कि लोहिया ने इन सभी मुद्दों के प्रति जो दृष्टि-कोण अपनाया, उनमे वे किसी व्यक्ति, समुदाय या मान्यता के प्रति पूर्वाग्रह से से ग्रसित नही थे। ये तो उनकी चिन्तन सातत्यता के फलस्वरूप उभरे निष्कर्षों का परिणाम था। अतः लोहिया के निष्कर्ष एक तरफ मौलिक हैं तो दूसरी तरफ विचारोत्तेजक। फलतः वे कई नये आयामों का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कांग्रेस द्वारा अपनायी गयी योजना नीति, उत्पादन पद्धति की प्रकृति तथा वितरण व्यवस्था का स्वरूप लोहिया की व्यवस्था के अनुकूल नही था। लोहिया के अनुसार, कांग्रेस की इन नीतियों का परिणाम केन्द्रित व्यवस्था, दोषपूर्ण उत्पादन और वितरण व्यवस्था को बनाये रखना था। जिसमें उनके द्वारा प्रस्थापित बृहद् सामाजिक पूर्णता के आदर्श को कोई स्थान नहीं मिलता था। अतः कांग्रेस की ये नीतियाँ उनके द्वारा आलोचना की शिकार बनी। इसी प्रकार भाषा नीति के संदर्भ में लोहिया का यह मानना पूर्णतः सही है कि अंग्रेजी का न तो राष्ट्रीय एकता से कोई सम्बन्ध है और न ही इससे सम्पूर्ण सामाजिक पूर्णता की प्राप्ति हो पाती है। यह अधिकांश जनता को लोक जीवन के घेरे से बाहर कर देती है। फलतः विकल्प निर्धारण की आवश्यकता है। लोहिया के अनुसार, वह विकल्प क्षेत्रीय भाषाओं के साथ हिन्दी ही हो सकती है साथ ही, लोहिया के विशेष आरक्षण का लक्ष्य उनकी व्यवस्था के मूल्यों की व्यावहारिक परिणति में था। अतः लोहिया की नीति

के ये मुद्दे उनके चिन्तन सातत्यता के क्रम में आये। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि उन्होंने भाषा के संदर्भ में तथा सामाजिक पिछड़ेपन के कारण सरकारी नौकरियो में दिये गये आरक्षण की एक समय—सीमा निश्चित की है। लोहिया का मानना था कि इस विशेष समय मे हम ऐसा आधार तैयार कर लेंगे, जिसमें प्रत्येक वर्ग के लिए यह सम्भव हो सकेगा कि वह बिना किसी सहारे के अपनी पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति को प्राप्त कर सके। अतः लोहिया पर आरोप लगाते समय उनका मूल्यांकन अलगाव मे नही, वरन् उनके सिद्धान्त—निर्माण के प्रयास में उभरी समाजवादी व्यवस्था तथा उसके संदर्भ मे अपनाये गये चिन्तन सातत्यता के क्रम में देखना चाहिए।

हम कह सकते हैं कि भारतीय पर्यावरण का आग्रह लोहिया को यथार्थता की भूमिका पर खड़ा करता है तो सिद्धान्त निर्माण का प्रयास तथा चिन्तन सातत्यता उन्हें राजनीतिक विचारक की हैसियत प्रदान करता है। भारतीय परिवेश की प्रमुखता होने के कारण उन्होने यहा के समाज की कमियों को गहरायी से समझा तथा उनके अनुरूप विकल्प सुझाने का प्रयास किया। लोहिया द्वारा प्रस्तुत विकल्पों की उपयोगिता तथा सार्थकता उनके स्थानीय परिवेश की सूझबूझ का ही परिणाम थी। सिद्धान्त निर्माण तथा चिन्तन सातत्यता, जो कि विचारक होने की दो प्रमुख कसौटियां हैं, लोहिया उन पर खरे सिद्ध होते हैं। लोहिया का सिद्धान्त निर्माण का प्रयास तथा चिन्तन सातत्यता अन्य भारतीय समाजवादियों के संदर्भ मे भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं। लगभग सभी भारतीय समाजवादियो में इन दोनों तत्वों का अभाव रहा। फलतः वे समाजवाद का स्वतन्त्र आधार खोजने मे असमर्थ रहे। परिणामस्वरूप समाजवाद अन्य चिन्तनधाराओं का प्रतिलिपि मात्र बनकर रह गया था। जबकि लोहिया ने उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनो चिन्तन-धाराओ से दूर हटकर, तीसरे विकल्प के रूप में, स्वतन्त्र भारतीय समाजवादी वैचारिक व्यवस्था के अनुपालन पर जोर दिया। अतः सभी भारतीय समाजवादियों के चिन्तन परिप्रेक्ष्य में लोहिया का यह प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है।

———

दीी ।, ताराचन्द	डॉ. लोहिया का समाजवादी दर्शन, इलाहबाद लोक-भारती, 1976
मंत्री, तथा विश्वनाथ (सम्पादित)	समता का दर्शन, लोहिया एक विश्लेपण, बम्बई : समता ग्रध्ययन केन्द्र, 1972
मेहरोत्रा, एन. पी.	लोहिया : ए स्टेडी, दिल्ली : ग्रात्माराम एण्ड सन्स, 1978
वर्मा, रजनीकांत	लोहिया, इलाहवाद : रश्मी, 1969
वाफोर्ड, जे. ए.	लोहिया, एण्ड ग्रमेरिका मीट, मद्रास : स्नेहलता राना रेड्डी, 1961
शरद, ग्रोकार	लोहिया : लखनऊ : प्रकाशन केन्द्र 1972
शर्मा, यतीन्द्र नाथ	डॉ. लोहिया का ग्रर्थ दर्शन, कानपुर : चित्रा, 1979

(ग) ग्रन्य

ग्रहमद, इलियास	ट्रेन्डस इन सोशलिस्ट थॉट एण्ड मूवमेंट, इलाहावाद दि इण्डियन प्रेस, 1937
एप्सटाइन, टी. एस.	इकॉनामिक डवेलपमेंट एण्ड सोशल चेंज इन साउथ इण्डिया, वाम्बे : ग्राक्सफोर्ड, 1966
कॉलकोवस्की, एस.	मेन करेन्ट्स ग्रॉव् मार्क्सिज्म, (तीनों भागो में) ग्रॉक्सफोर्ड, क्लेरेन्डन, 1978
कुमारप्पा, भारतन	केपटिलिज्म, सोशलिज्म ग्रॉर विलेजिइज्म, वाराणसी : एस. एस. प्रकाशन, 1965
कोल, जी. डी. एच.	ए हिस्ट्री ग्रॉव सोशलिस्ट थॉट, [पांच भागो मे] न्यूयार्क : मेकमिलन, 1953, 54, 56, 57, 57, 58, 60 [क्रमश:]
गाधी, एम. के.	इकॉनोमिक एण्ड इण्डस्ट्रीयल लाइफ एण्ड रिलेशन्स, ग्रहमदावाद : नवजीवन, 1959
गांधी, एम. के.	हिन्द स्वराज्य, ग्रहमदाबाद : नवजीवन, 1959
गांधी, एम. के.	हिन्दू धर्म, ग्रहमदाबाद : नव जीवन, 1950
ग्रे, ग्रलकजेन्डर	दि सोशलिस्ट ट्रेडिशन मार्क्स टू लेनिन, न्यूयार्क : लोंगमैस, 1947
गोरडी, ग्रार.	दि टर्निग पोइन्ट ग्रॉव सोशलिज्म, लन्दन, फॉनटेना, 1969

ग्रन्थ-सूची

(क) राममनोहर लोहिया की प्रमुख पुस्तकें

इतिहास चक्र, [अनूदित] इलाहाबाद : लोकभारती, 1977
इन्टरवल डुरिंग पोलिटिक्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1965 .
जातिप्रथा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964
दि मिस्ट्री ऑव् सर स्टेफर्ड क्रिप्स, बम्बई : पद्मा, 1942
देश-विदेश नीति : कुछ पहलू, हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1970
नोट एण्ड कॉमेन्ट्स, [दो भागों में] हैदराबाद : राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, 1975, 1977 [क्रमशः]
फर्गमेन्ट्स ऑव ए वर्ल्ड माइन्ड, कलकत्ता : मैत्रयानी, 1952
भारत चीन और उत्तरी सीमायें, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963
भारत विभाजन के गुनाहगार, [अनूदित] इलाहाबाद : लोकभारती, 1978
भाषा, हैदराबाद : नवहिन्द, 1964
मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद : नवहिन्द 1963
रूपीज 25,000/– ए डे, हैदराबाद : नवहिन्द 1963
विल टू पॉवर एण्ड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद : नवहिन्द, 1956

(ख) राममनोहर लोहिया पर प्रमुख पुस्तकें

अरमुगम एम. — सोशलिस्ट थॉट इन इण्डिया : कन्ट्रीब्यूशन ऑव् राममनोहर लोहिया, नई दिल्ली : स्टर्लिंग, 1978
केलकर, इ. — लोहिया सिद्धान्त और कर्म, हैदराबाद : नवहिन्द, 1963
ठाकुर कृष्णनन्दन — लोहिया के आर्थिक-राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, नई दिल्ली : एस. चन्द, 1979
दीपक, ओमप्रकाश — लोहिया : असमाप्त जीवनी, बम्बई : समता अध्ययन न्यास, 1978

दीक्षित, ताराचन्द	डॉ. लोहिया का समाजवादी दर्शन, इलाहबाद लोक-भारती, 1976
मैत्री, तथा विश्वनाथ (सम्पादित)	समता का दर्शन, लोहिया एक विश्लेपण, बम्बई समता अध्ययन केन्द्र, 1972
मेहरोत्रा, एन. पी.	लोहिया : ए स्टेडी, दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्स, 1978
वर्मा, रजनीकांत	लोहिया, इलाहबाद : रश्मी, 1969
वाफोर्ड, जे. ए.	लोहिया, एण्ड अमेरिका मीट, मद्रास : स्नेहलता राना रेड्डी, 1961
शरद, ओंकार	लोहिया : लखनऊ : प्रकाशन केन्द्र 1972
शर्मा, यतीन्द्र नाथ	डॉ. लोहिया का अर्थ दर्शन, कानपुर : चित्रा, 1979

(ग) अन्य

अहमद, इलियास	ट्रेन्डस इन सोशलिस्ट थॉट एण्ड मूवमेंट, इलाहावाद दि इण्डियन प्रेस, 1937
एप्सटाइन, टी. एस.	इकॉनामिक डवेलपमेंट एण्ड सोशल चेंज इन साउथ इण्डिया, बाम्बे : आक्सफोर्ड, 1966
कॉलकोवस्की, एस.	मेन करेन्ट्स ऑव् मार्क्सिज्म, (तीनों भागों में) ऑक्सफोर्ड, क्लेरेन्डन, 1978
कुमारप्पा, भारतन	कैपटिलिज्म, सोशलिज्म और विलेजिइज्म, वाराणसी : एस. एस. प्रकाशन, 1965
कोल, जी. डी. एच	ए हिस्ट्री ऑव सोशलिस्ट थॉट, [पाच भागो में] न्यूयार्क : मेकमिलन, 1953, 54, 56, 57, 57, 58, 60 [क्रमशः]
गांधी, एम. के.	इकॉनोमिक एण्ड इण्डस्ट्रीयल लाइफ एण्ड रिलेशन्स, अहमदावाद : नवजीवन, 1959
गांधी, एम. के.	हिन्द स्वराज्य, अहमदाबाद : नवजीवन, 1959
गांधी, एम. के.	हिन्दू धर्म, अहमदाबाद : नव जीवन, 1950
ग्रे, अलकजेन्डर	दि सोशलिस्ट ट्रेडिशन मार्क्स टू लेनिन, न्यूयार्क : लोंगमैस, 1947
गोरडो, आर.	दि टर्निग पोइन्ट ऑव सोशलिज्म, लन्दन, फॉनटेना, 1969

घोष, अजयकुमार	थ्योरिज एण्ड प्रेक्टिसिज ऑव दि सोशलिस्ट पार्टी आव् इण्डिया, बम्बई : पीपल्स, 1952
घोष, अजयकुमार	दि न्यू आइडियोलॉजी ऑव् डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, बम्बई : पीपल्स, 1952
चौधरी, असीमकुमार	सोशलिस्ट मूवमेंट इन इंडिया : दि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी 1934–47, कलकत्ता, प्रोग्रेस, 1980
जोशी, पी सी.	कांग्रेस एण्ड कम्युनिस्ट्स, बम्बई : पीपल्स, 144
जोशी, पी. सी. एण्ड दामोदरन, के.	मार्क्स कम्स् टू इंडिया, नई दिल्ली : मनोहर, 1975
ड्यूमों, लुई	रिलिजन/पोलिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इंडिया, पेरिस : माउटोन, 1970
डाल्टन, डी. जी.	इण्डियन आइडिया ऑव फ्रीडम, गुड़गाँव : दि ऐके-डेमिक प्रेस, 1982
डालमायर, एफ. आर.	फ्रॉम कान्ट्रेक्ट टू कम्यूनिटी : पोलिटिकल थ्योरी एण्ड दी क्रासरोड़, न्यूयार्क : मार्सल डेकर, 1978
डेविड मिटरानी	मार्क्स अगेंस्ट दि पीजेन्ट, लन्दन : जार्ज विडनफेल्ड एण्ड निकलसन, 1951
देव, नरेन्द्र	राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी : ज्ञान मण्डल लि सं. 200
देव, नरेन्द्र	सोशलिज्म एण्ड दि नेशनल रिवोल्युशन, बम्बई : पद्मा, 1946
नारायण, जयप्रकाश	टुवार्डस् न्यू सोसाइटी, दिल्ली : दि ऑफिस फॉर एशिया अफेयर्स, 1958
नारायण, जयप्रकाश	व्हाय सोशलिज्म ? बनारस, 1936
नारायण, जयप्रकाश	समाजवाद, सर्वोदय और लोकतन्त्र, पटना, 1936
नारायण, जयप्रकाश	सोशलिज्म टू सर्वोदय, मेलापुर, 1956
नारायण, जयप्रकाश	सोशलिस्ट यूनिटी एण्ड दी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, बम्बई : सी. एस. पी. 1941
नारायण, ब्रिज	चर्खा, मार्क्सिज्म, इण्डियन सोशलिज्म, लाहौर : रामकृष्ण, 1941

नेहरू, जवाहरलाल — ग्लिम्पसेज ऑव् वर्ल्ड हिस्ट्री, इलाहाबाद : किताबीस्तान, 1946

नेहरू, जवाहरलाल — दि डिस्कवरी ऑव इण्डिया, कलकत्ता : सिगनेट, 1946

प्रसाद, आर. ए. — सोशलिस्ट थॉट इन मॉडर्न इण्डिया, दिल्ली : मीनाक्षी, 1974

मसानी, एम. आर — कम्युनिस्ट प्लोट अगेन्स्ट दि काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी—फॉर मेम्बर्स ऑव् दि सी. एस. पी. बम्बई : कार्नेट, 1938

मसानी, एम. आर. — सोशलिज्म रिकंसीडरेशन, बम्बई : पद्मा, 1944

मिलिबाड एण्ड साविल [सम्पादित] — दि सोशलिस्ट रजिस्टर, लन्दन : मेरलिन, 1972

मैकफरसन सी. बी. — डेमोक्रेटिक थ्योरी, ऑक्सफोर्ड : क्लेरेण्डन, 1974

मैकफरसन, सी. बी. — दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव् लिबरल डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड, 1977

मेहता, अशोक — डेमोक्रेटिक सोशलिज्म, बम्बई, 1959

मेहता, अशोक — सोशलिज्म एण्ड [illegible] ए प्रजा सोशलिस्ट [illegible], 1953

मेहता, अशोक — स्टडीज इन एशियन सोशलिज्म, बम्बई, 1959

मेहता, [illegible] — [illegible] : ट्रेन्ड्स एन [illegible], नई दिल्ली : मनोहर, 1978

मेहता, [illegible] — [illegible], मॉडर्नाइजेशन एण्ड [illegible] इण्डिया, नई दिल्ली : मनोहर, 1983

रोदरमंड, डी. — दि फेजेज ऑव इण्डियन नेशनलिज्म एंड अदर एसेज बम्बई : नचिकेता, 1970

लिमये, मधु — एवोल्यूशन ऑव सोशलिस्ट पार्टी, हैदराबाद [illegible] 1952

लिमये, मधु — कम्युनिस्ट पार्टी फेक्ट्स एण्ड फिक्शन [illegible], 1951

विवेकानन्द — कास्ट कल्चर एंड सोशलिज्म, [illegible] [illegible], 1947

स्टाजनोविक, एस	विटविन आइडिया एण्ड रियलिटी : एक्रिटिक आव् सोशलिज्म एण्ड इट्स फ्यूचर, ऑक्सफोर्ड, 1973
सम्पूर्णानन्द	इंडियन सोशलिज्म, बम्बई, एशिया पब्लिकेशन हाउस, 1961
	ए टेन्टेटिव सोशलिस्ट प्रोग्राम फॉर इण्डिया, बनारस, 1934
	समाजवाद, काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, 1960
सॉल-रोज	सोशलिज्म इन सदर्न एशिया, लन्दन : ऑक्सफोर्ड, 1969
स्मिथ, डब्ल्यू. सी.	मॉर्डन इस्लाम इन इण्डिया, लन्दन : विक्टर गोलांज, 1943
सिंह, हरिकिशोर	ए हिस्ट्री ऑव् दि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, नरेन्द्र देव प्रकाशन, 1969
श्री अरविन्द	मानव एकता का आदर्श, पांडिचेरी : श्री अरविन्द सोसाइटी, 1969
श्री अरविन्द	मानव चक्र, पांडिचेरी : श्री अरविन्द सोसाइटी,
लालचन्द	सोशलिस्ट ट्रान्सफॉरमेशन ऑव् इन्डियन इकोनोमी, बम्बई : ए लाइड, 1965

डॉ. लीलाराम गुर्जर [जन्म : 1958] ने राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के राजनीति विज्ञान विभाग से एम. ए. [1979], एम. फिल. [1981] तथा पी-एच. डी. [1984] की उपाधि अर्जित की। सम्प्रति: सहायक प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर। कई शोध पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित। वर्तमान में डॉ गुर्जर यू. जी. सी. द्वारा स्वीकृति प्रोजेक्ट "कॉन्सेप्ट ऑव् ईक्वॉलिटि : इन कम्पेरेटिव पोलिटिकल थिअरि" पर कार्य कर रहे हैं।